रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

रजत जयन्ती वर्ष

(जनवरी १९६३–दिसम्बर १९८७)

रजत जयंती विशेषांक
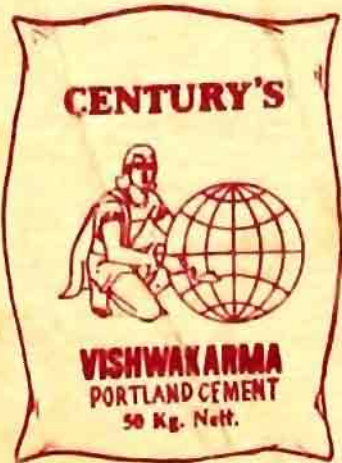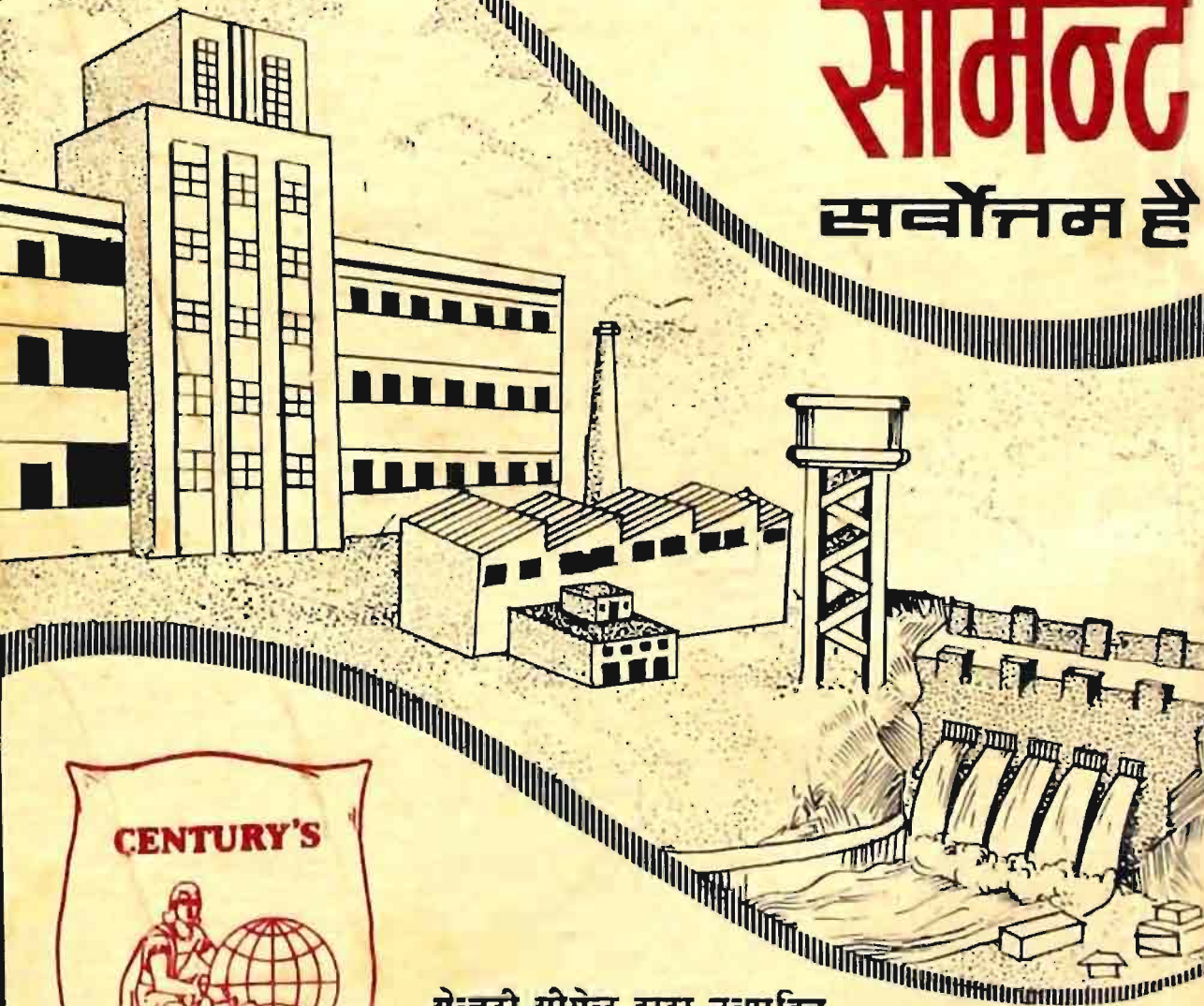
वर्ष : २५ अंक ४

पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)

टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'

फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

रजत जयन्ती वर्ष

१९६३-१९८७

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर
* १९८७ *

रजत जयंती विशेषांक

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द
व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

इस विशेषांक का मूल्य ५)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

७९वीं तालिका

(३१ अगस्त १९८७ तक)

२७९१. श्री चेतन चन्द्राकर, उपयंत्री, तान्दुला (दुर्ग)।
२७९२. श्री विवेकानन्द युवा मंडल, खुर्जा (उ.प्र.)।
२७९३. अध्यक्ष, जनसेवा समिति, उरकुरा, रायपुर।
२७९४. श्री ओमप्रकाश बियाणी, सदर बाजार, नागपुर।
२७९५. श्री जी. पी. तिवारी, प्राचार्य, शासकीय उ. मा. शाला, मनेन्द्रगढ़ (सरगुजा)।
२७९६. श्री सुरेश दीवान, रोहन (होशंगाबाद)।
२७९७. श्री हीरालाल पटेल (सिंह), कामता, पीलीकोठी (सतना)।
२७९८. डॉ. के. एन. दुबे, राइट टाउन, जबलपुर।
२७९९. श्री ए. बी. सिंह, आई. डी. ई. एस., नीलगिरि (तमिलनाडु)।
२८००. श्री राजकुमार धीवर, सेमरताल (बिलासपुर)।
२८०१. श्री मदनलाल शर्मा, खातीवाला टैंक, इन्दौर।
२८०२. श्रीमती भद्रशीला आर. पण्ड्या, फर्टिलाइजर नगर, बड़ौदा।
२८०३. श्री अनिलकुमार पूनमचन्द जैन, वर्धमान नगर, नागपुर।
२८०४. श्री डी. आर. देवांगन, धरमपुरा, जगदलपुर।
२८०५. श्री संजयकुमार वर्मा, कुसुमी अँतरिया (राजनाँदगाँव)।
२८०६. श्री नरोत्तमलाल वर्मा, धरमपुरा, तह. कवर्धा (म.प्र.)।
२८०७. श्री एम. पी. श्रीवास्तव, सब-इंजीनियर (सिंचाई), भुवा बिछिया (मंडला)।
२८०८. श्री मनोहर रतनलाल सोनी, खरगोन (म.प्र.)।
२८०९. प्रधान अध्यापक, पूर्व मा. शाला, हल्दी (दुर्ग)।
२८१०. श्री अशोककुमार शर्मा, सीमेंट नगर, अकलतरा (बिलासपुर)।
२८११. श्री जे. एन. वाजपेयी, जीरा, सिकन्दराबाद (आन्ध्र)।
२८१२. श्री शिवकुमार जायसवाल, गोंदिया (महाराष्ट्र)।
२८१३. श्री रामकृष्ण प्रार्थना मंदिर, लिमडी (गुजरात)।

२८१४. श्री कमलाकान्त लक्ष्मणराव शिगणे, सब-इंजीनियर, लो. नि. विभाग, पेण्ड्रा (बिलासपुर)।
२८१५. श्री विनोदकुमार गुप्ता, विनको इंडस्ट्रीज, चण्डीगढ़।
२८१६. श्री ओमप्रकाश हुकुमचन्द अग्रवाल, कोठी बाजार, बैतूल।
२८१७. प्राचार्य, उ. मा. विद्यालय, बैतूलगंज, बैतूल।
२८१८. श्री सुधाकर राव निनावे, भैंसदेही (बैतूल)।
२८१९. श्री प्रभाकर अनंत खांडवे, कोठी बाजार, बैतूल।
२८२०. श्री महादेवराव सोनारे, कोठी बाजार, बैतूल।
२८२१. श्री पी. आर. माधनकर, कोठी बाजार, बैतूल।
२८२२. श्रीमती हेना सरकार, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली।

○

अनुक्रमणिका

आवरण चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २५] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर ★ १९८७ ★ [अंक ४

आनन्द का अधिकारी कौन ?

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ।।

—आशा नदी है, मनोरथ उसका जल है, तृष्णा तरंगें हैं, आसक्ति मगर है, भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क पक्षी हैं, यह नदी धीरज-रूपी वृक्षों को बहानेवाली है। मोह के भँवरों से भरी होने के कारण यह दुस्तर और कठिन है। महाचिन्ता उसके उभय तट हैं। शुद्धान्तः-करण के योगिराज ही इस नदी को पार करके आनन्द के अधिकारी बनते हैं।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', १०

सिंहावलोकन

(सम्पादकीय)

'विवेक-ज्योति' का 'रजत जयन्ती विशेषांक' पाठकों के हाथों में रखते हुए हमें विशेष प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। १९६३ की जनवरी में, स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष में, इसके प्रथम अंक का प्रकाशन हुआ था। पहले हमें भय था कि रायपुर जैसी छोटी जगह से निकलनेवाली त्रैमासिक पत्रिका का भविष्य भला कितना उज्ज्वल हो सकता है? कुछ लोगों ने यह शंका भी प्रदर्शित की कि बीच में कहीं पत्रिका को बन्द न कर देना पड़े। पर अन्य साथियों ने हिम्मत देते हुए कहा कि अगर परिस्थितियाँ बन्द ही कर देने की आयीं और कोई उपाय न निकला, तब बन्द कर देंगे, पर ऐसे अन्धकारमय भविष्य की काल्पनिक बात सोचकर पत्रिका का प्रकाशन ही न करें इसमें कोई तुक नहीं है। फलस्वरूप, हमने डरते-डरते उसकी १,००० प्रतियाँ छपायी थीं। पर यह देख हमें सुखद आश्चर्य हुआ कि एक महीने के भीतर ही वे सारी प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और लोगों की माँगें दिनोंदिन बढ़ने लगीं। तब हमें बाध्य हो पहले अंक की पुनः १,००० प्रतियाँ छपानी पड़ीं। इस प्रकार 'विवेक-ज्योति' के प्रारम्भ से ही २,००० ग्राहक हो गये। यह संख्या, बिना किसी प्रचार या विज्ञापन के, वर्ष पर वर्ष बढ़ने लगी और आज हम इस विशेषांक की ८,००० प्रतियाँ छपा रहे हैं।

फिर, यह सुझाव भी आया कि यदि पत्रिका की आजीवन ग्राहकता योजना शुरू की जाय, तो उसके स्थायित्व की दिशा में वह अच्छा कदम होगा। यह स्वागत-योग्य सुझाव था और हमने जनवरी १९६८ से उसका अभियान भी शुरू किया। १९६८ वर्ष के दूसरे अंक से आजीवन ग्राहकों की सूची 'विवेक-ज्योति' में नियमित रूप से छपने लगी और जून, १९८७ के अन्त तक इसके २,८००

से भी अधिक आजीवन ग्राहक बन गये हैं। हमने प्रारम्भ में आजीवन ग्राहकता शुल्क जो १००) रखा था, उसे बढ़ाया नहीं और वह आज भी उतना ही है।

पाठकों के हमारे पास बहुत आग्रह-भरे पत्र आये कि पत्रिका को मासिक बनाया जाय। कई लोगों ने सुझाव दिया कि पत्रिका को रजत-जयन्ती के उपलक्ष में कम-से-कम उसे मासिक बनाने की घोषणा कर दी जाय, पर खेद है कि हम वैसा नहीं कर पाये। इसका कारण यह है कि रायपुर में अभी तक हमें ऐसा प्रेस नहीं मिला, जो हमारी इस त्रैमासिक पत्रिका को छापकर समय पर दे दे। और जब त्रैमासिक पत्रिका ही समय पर छपकर न मिले, तब मासिक पत्रिका छपाने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आपको हमारी कठिनाई का अनुमान इसी से लग जाएगा कि इन पच्चीस वर्षों में हमें यह पत्रिका छपाने के लिए कहाँ-कहाँ न जाना पड़ा। आपकी जानकारी के लिए हम 'विवेक-ज्योति' के मुद्रण स्थानों का नाम देते हैं:—

(१) श्री विश्वेश्वर प्रेस, वाराणसी
—वर्ष १ अंक १ से वर्ष ५ अंक ४ तक।

(२) नवभारत प्रिन्टर्स, रायपुर
—वर्ष ६ अंक १ से वर्ष ७ अंक ३ तक।

(३) विवेक मुद्रणालय, नागपुर
—वर्ष ७ अंक ४ से वर्ष ९ अंक ४ तक।

(४) मैजेस्टिक प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर
—वर्ष १० अंक १ से वर्ष १० अंक २ तक।

(५) नरकेसरी प्रेस, रायपुर
—वर्ष १० अंक ३ से वर्ष १६ अंक २ तक।

(६) संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर
—वर्ष १६ अंक ३ से वर्ष १८ अंक १ तक।

(७) रायपुर प्रिंटर्स, रायपुर

—वर्ष १८ अंक २ से वर्ष १८ अंक ४ तक।

(८) नरकेसरी प्रेस, रायपुर

—वर्ष १९ अंक १ से वर्ष २० अंक ४ तक।

(९) सरस्वती प्रेस, मथुरा

—वर्ष २१ अंक १ से वर्ष २१ अंक ४ तक।

(१०) नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर

—वर्ष २२ अंक १ से अभी चल रहा।

इस कठिनाई के बावजूद आनन्द की बात यह है कि भले ही किसी-किसी अंक के प्रकाशन में कुछ विलम्ब हुआ हो, किन्तु प्रारंभ से लेकर आज तक, इन पच्चीस वर्षों में, कोई ऐसा अंक नहीं था, जो न छपा हो या कि कोई सम्मिलित अंक छापे गये हों। इन पच्चीस वर्षों में पूरे सौ अंक आपकी इस पत्रिका के निकले हैं, यह हमारे लिए विशेष सन्तोष की बात है।

हर अंक के सन्दर्भ में कुछ-कुछ ग्राहकों से शिकायतें आती रहती हैं कि उन्हें वह अंक नहीं मिला है। इसका हमें सचमुच अत्यन्त खेद है। हम लोग यहाँ से अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके ही पत्रिका भेजते हैं। डाक की गड़बड़ी सर्वविदित है—पत्रिका देर से पहुँचती है और कभी-कभी नहीं भी पहुँचती। हम बनते तक ऐसे ग्राहकों को अंक उपलब्ध होने पर दुबारा भेज ही देते हैं। इस दिशा में हमने दो सुझाव उन सुधी ग्राहकों को दिये थे, जिन्हें बहुधा पत्रिका नहीं मिलने की शिकायत रहती है—(१) वे या तो रेकार्डेड डेलिवरी से पत्रिका मँगाना स्वीकार करते हुए उतना अतिरिक्त डाकखर्च हमें भेज दें, या फिर (२) अपनी प्रति वी. पी. पी. से मँगाना स्वीकार कर लें। कई लोगों ने हमारा दूसरा सुझाव मान्य किया और उन्हें पत्रिका वी.पी.पी. से भेजी जाती है।

इन असुविधाओं के बावजूद पाठकों ने हमें जो स्नेह और सहयोग दिया उसका हमें विशेष हर्ष है। उनके इस स्नेहपूर्ण सहयोग के कारण ही हम दृढ़ कदमों से आगे बढ़ने में समर्थ हो रहे हैं।

इस विशेषांक में स्वामी विवेकानन्द और पत्रकारिता पर दो विशेष लेख हैं। इनमें पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वामीजी की अमूल्य देन का सुन्दर वर्णन है। पढ़कर पता चलेगा कि स्वामीजी में एक पत्र निकालने की कितनी छटपटाहट थी। श्री पेरुमल को लिखे अपने पत्र में वे पत्रिका निकालने की बात को एकाधिक बार दुहराते हैं तथा अपने अन्य कई पत्रों में भी उसका उल्लेख करते हैं। इससे लगता है कि स्वामीजी की दृष्टि में एक संस्था के लिए मुख-पत्र का होना कितना महत्त्व रखता है।

हमने अपने इस विशेषांक को अनुरूप ढंग से सजाने-सँवारने की चेष्टा की है। लेख भी अपनी अलग-अलग विशिष्टता लिये हुए हैं। लेखों में विवेच्य विषय की समानता के कारण पाठकों को कहीं-कहीं पुनरुक्ति प्रतीत हो सकती है, पर हमारा विश्वास है कि सन्दर्भों की विभिन्नता के कारण उन्हें ऐसी पुनरुक्तियों में भी एक विशेष रस की अनुभूति होगी। इन लेखों में से कई को मूल बँगला या अँगरेजी से अनुवाद करके तैयार करने में हमें रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द का बहुमूल्य सहयोग मिला है। हम उनके प्रति अपने हृदय का आभार प्रकट करते हैं।

हमें विश्वास है कि यह विशेषांक हमारे पाठकों को पसन्द आएगा और उनका हार्दिक सहयोग हमें सदैव इसी प्रकार मिलता रहेगा।

O

अग्नि-मंत्र

(श्री ई.टी. स्टर्डी को लिखित)

द्वारा एफ. एच. लेगेट
२१, पश्चिम, ३४ वीं स्ट्रीट
न्यूयार्क
नवम्बर, १८९९

प्रिय स्टर्डी,

यह पत्र अपने आचरण के समर्थन में नहीं लिख रहा हूँ। यदि मैंने कोई पाप किया है तो शब्दों से उसका मोचन नहीं हो सकता, न ही किसी प्रकार का प्रतिबन्ध सत्कार्य को अग्रसर होने से रोक सकता है।

पिछले कुछ महीनों से बराबर मैं इस विषय में सुनता आ रहा हूँ कि पश्चिम वालों ने मेरे भोग के लिए कितने ऐशो-आराम के साधन जुटाये हैं, और यह कि ऐशो-आराम के इन साधनों का मुझ-जैसा पाखण्डी उपभोग भी करता रहा है, जबकि इस बीच बराबर मैं दूसरों को त्याग की शिक्षा देता रहा हूँ। और ये ऐशो-आराम के साधन और इनका उपभोग ही कम से कम इंग्लैण्ड में मेरे काम में सबसे बड़ा रोड़ा रहा है। मैंने करीब करीब अपने मन को यह विश्वास कर लेने के लिए सम्मोहित कर दिया है कि मेरे जीवन के नीरस मरु-प्रदेश में यह एक नखलिस्तान जैसी चीज रही है—जीवन-पर्यन्त के दुःखों-कष्टों तथा निराशाओं के बीच प्रकाश का एक लघु केन्द्र!—कठिन परिश्रम और कठिनतर अभिशापों से भरे जीवन में एक क्षण का विश्राम! —और यह नखलिस्तान, यह लघु केन्द्र, यह क्षण भी केवल इन्द्रिय-भोग के लिए!!

मैं बहुत खुश था, मैं दिन में सैकड़ों बार उनकी कल्याण-कामना करता था, जिन्होंने यह सब प्राप्त कराने में मेरी सहायता की। परन्तु देखिए न, तभी आपका पिछला पत्र आता है, बिजली की कड़क की तरह, और सारा स्वप्न उड़ जाता है। मैं आपकी आलोचना के प्रति अविश्वास करने लगता हूँ, बल्कि मुझमें ऐशो-आराम के साधन और उनके भोग आदि की सारी बातों और इसके अतिरिक्त दूसरी चीजों की स्मृतियों पर बहुत थोड़ी आस्था शेष रह जाती है। यह सब कुछ मैं आपको लिख रहा हूँ, यदि आप उचित समझें, तो आशा है आप इसे मित्रों को दिखा देंगे और बताएँगे कि मैं कहाँ गलती पर हूँ।

मुझे 'रीडिंग' में आपका आवास याद है, जहाँ मुझे दिन में तीन बार उबली हुई पातगोभी और आलू, भात तथा उबली हुई दाल खाने को दी जाती थी और साथ ही वह चटनी थी, जो आपकी पत्नी मुझे सारे समय कोस-कोसकर देती थीं। मुझे याद नहीं कि कभी आपने मुझे सिगार पीने को दिया हो—शिलिंगवाली या पेंसवाली। न ही मुझे याद है कि मैंने आपसे भोजन या आपकी पत्नी के सदा कोसते रहने के विषय में कोई शिकायत की हो, हालाँकि घर में मैं हमेशा एक चोर की तरह भय से सदा काँपता और प्रतिदिन आपके लिए काम करता रहता था।

अगली स्मृति मुझे सेंट जार्ज रोड स्थित उस मकान की है, जहाँ आप और कुमारी मूलर उस घर के मालिक थे। मेरा भाई बेचारा वहाँ बीमार था और × × ने उसे खदेड़ दिया। वहाँ भी मुझे याद नहीं आता कि मुझे

कोई ऐशो-आराम मिला न– खान-पान के विषय में और न शय्या-बिस्तर के विषय में। यहाँ तक कि कमरे के विषय में भी नहीं।

दूसरा स्थान जहाँ मैं ठहरा, वह कुमारी मूलर का घर था। यद्यपि वे मेरे प्रति बहुत मेहरबान रहीं, पर मैं सूखे मेवे और फल खाकर गुजारा करता था। फिर अगली स्मृति लन्दन के उस 'अन्ध-कूप' की है, जहाँ मुझे दिन-रात कार्य करना पड़ता था। और अक्सर पाँच-छः जनों के लिए भोजन भी पकाना पड़ता था; और जहाँ अधिकांश रात्रियाँ मुझे रोटी के टुकड़े और मक्खन के सहारे गुजार देनी पड़ती थीं।

मुझे याद है एक बार श्रीमती × × ने मुझे भोजन पर बुलाया, रात को ठहरने की जगह भी दी, पर अगले ही दिन घर भर में धूम्रपान करनेवाले काले जंगली की निन्दा करती रहीं।

कैप्टन सेवियर तथा श्रीमती सेवियर को छोड़कर मुझे याद नहीं कि इँग्लैण्ड में किसी ने एक रूमाल जितना टाट का टुकड़ा भी कभी मुझे दिया हो। बल्कि इँग्लैण्ड में शरीर और मस्तिष्क से रात-दिन काम करने के कारण ही मेरी तन्दुरुस्ती गिर गयी। यही सब कुछ आप इँग्लैण्ड-वासियों ने मुझे दिया, जबकि बराबर मुझसे जी-तोड़ काम लेते रहे। और अब मुझे इस 'ऐशो-आराम' के लिए कोसा जा रहा है। आपमें से किन लोगों ने मुझे कोट पहनाया है? किसने सिगार दिया है? किसने मछली या गोश्त का टुकड़ा? आपमें से किसे ऐसा कहने की हिम्मत है कि मैंने उससे खाने-पीने की, या धूम्रपान या कपड़े-लत्ते या रुपये-पैसे की याचना की? × × से पूछिए,

भगवान् के लिए पूछिए, अपने मित्रों से पूछिए, और सबसे पहले खुद अपने से पूछिए, 'अपने अन्दर स्थित उस परमेश्वर से जो कभी सोता नहीं।'

आपने मेरे काम के लिए रुपया दिया है। उसकी एक-एक पाई यहाँ है। आपकी आँखों के सामने मैंने अपने भाई को दूर भेज दिया, शायद मरने के लिए, पर मुझे यह गवारा नहीं हुआ कि उस अमानत के धन में से उसे एक कौड़ी भी दे दूं।

दूसरी ओर मुझे इँग्लैण्ड के सेवियर-दम्पति की याद आती है, जिन्होंने ठण्ड में मेरी कपड़ों से रक्षा की, मेरी अपनी माँ से बढ़कर मेरी सेवा की और मेरी परेशानियों तथा मेरी दुर्बलताओं को साथ साथ झेला। और उनके हृदय में मेरे प्रति आशीर्वाद भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और चूँकि श्रीमती सेवियर को किसी गौरव की परवाह नहीं थी, इसलिए वे आज हजारों लोगों की दृष्टि में पूज्य हैं, और मरने के बाद वे हम गरीब भारतवासियों की एक महान् उपकारकर्त्री के रूप में लाखों लोगों द्वारा स्मरण की जाएँगी। और इन लोगों ने मेरे ऐशो-आराम के लिए मुझे कभी नहीं कोसा, हालाँकि मुझे उसकी यदि आवश्यकता हो या मैं उसे चाहूँ तो वे उसे देने के लिए तत्पर हैं।

श्रीमती बुल, कुमारी मैक्लिऑड, और श्री तथा श्रीमती लेगेट के विषय में आपसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। मेरे प्रति उनका कितना स्नेह और कृपाभाव है, यह आप जानते हैं। श्रीमती बुल और कुमारी मैक्लिऑड तो हमारे देश भी जा चुकी हैं, वहाँ घूमी-फिरी और रही हैं, जैसा कि अभी तक किसी विदेशी ने नहीं

किया, और वहाँ का सब कुछ झेला है, पर ये न मुझे कोसती हैं न मेरे ऐशो-आराम को। बल्कि यदि मैं अच्छा खाना चाहूँ या एक डालर वाला सिगार पीना चाहूँ, तो इससे वे खुश ही होंगी। और इन्हीं लेगेट और बुल परिवारों ने मुझे खाने को भोजन और तन ढकने को वस्त्र दिया, जिनके पैसों से मैं धूम्रपान करता रहा और कई बार तो अपने मकान का मैंने किराया चुकता किया; जबकि मैं आपके देशवासियों के लिए मरता-खपता रहा और मेरे शरीर की बोटियों के बदले आप लोग मुझे गन्दे दरबे तथा भुखमरी प्रदान करते रहे, और साथ ही मन में यह आरोप भी पालते रहे कि मैं वहाँ 'ऐश' कर रहा हूँ।

'गरजनेवाले मेघ बरसते नहीं;

वर्षा के मेघ बिना गरजे धरती को आप्लावित कर देते हैं।'

देखिए..., जिन्होंने सहायता दी है या अभी भी कर रहे हैं, वे कोई आलोचना नहीं करते, न कोसते हैं; यह तो केवल उनका काम है, जो कुछ नहीं करते, जो सिर्फ अपने स्वार्थ-साधन में मस्त रहते हैं। इन निकम्मे, हृदय-हीन, स्वार्थी, निकृष्ट लोगों का आलोचना करना मेरे लिए सबसे बड़ा वरदान हो सकता है। मैं अपने जीवन में इसके सिवा और कुछ नहीं चाहता कि इन बेहद मत-लबी लोगों से कोसों दूर रहूँ।

ऐशो-आराम की बातें! इन आलोचकों को एक के बाद एक परखिए तो सबके सब मिट्टी के लोंदे निकलेंगे, किसी में भी जीवन-चेतना का कहीं लेश नहीं। ईश्वर को धन्यवाद है कि ऐसे लोग देर-सबेर अपने असली रंग में उतर आते हैं। और आप मुझे इन हृदयहीन स्वार्थी लोगों के

कहने पर अपना आचरण और कार्य नियमित करने की सलाह देते हैं, और हतबुद्धि होते हैं, क्योंकि मैं ऐसा नहीं करता !

जहाँ तक मेरे गुरुभाइयों की बात है, वे जो मैं कहता हूँ, वही करते हैं । यदि उन्होंने कहीं कोई स्वार्थ दिखाया है, तो वह मेरे आदेश पर ही, अपनी इच्छा से नहीं ।

जिस 'अन्ध-कूप' में आपने मुझे लन्दन में रखा, जहाँ मुझे काम करते करते मर जाने दिया और सारे समय प्रायः भूखा रखा, क्या वहाँ आप अपने बच्चों को रखना चाहेंगे? क्या श्रीमती × × ऐसा चाहेंगी? वे 'संन्यासी' हैं, और इसका अर्थ है कि कोई संन्यासी अपना जीवन अनावश्यक रूप से बरबाद न करे, न ही 'अनावश्यक कष्ट-सहन करे ।'

पश्चिम में यह कष्ट सहन करते समय हम केवल संन्यासी-धर्म का उल्लंघन ही करते रहे हैं । वे मेरे भाई हैं, मेरे बच्चे हैं । मैं अपनी खातिर उन्हें कुएँ में मरने देना नहीं चाहता । जितना जो कुछ भी शुभ है, सत्य है, उसकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं उन्हें उनकी कष्ट-साधनाओं के बदले इस तरह भूखों मरते, खपते और कोसे जाते नहीं देखना चाहता ।

एक बात और । मुझे बड़ी खुशी होगी, यदि आप मुझे दिखा सकें कि कहाँ मैंने देह को यातना देने का प्रवचन किया है । जहाँ तक शास्त्रों की बात है, यदि कोई पण्डित-शास्त्री संन्यासियों तथा परमहंसों के लिए जीवन-व्यवस्था के नियमों के आधार पर हमारे विरुद्ध कुछ कह सकने का साहस करे, तो मुझे प्रसन्नता ही होगी ।

हाँ. . . मेरा हृदय दुखता है । मैं सब समझता हूँ । मुझे

पता है कि आप कहाँ हैं—आप उन लोगों के चंगुल में फँसे हुए हैं, जो आपको मेरे विरुद्ध इस्तेमाल करना चाहते हैं। मेरा मतलब आपकी पत्नी से नहीं। वह तो इतनी सीधी है कि कभी खतरनाक हो ही नहीं सकती। लेकिन मेरे बेचारे, भाई, आपके पास मांस की गन्ध है—थोड़ा सा धन है। —और गिद्ध चारों ओर मँडरा रहे हैं। यही जीवन है।

आपने प्राचीन भारत के विषय में ढेरों बातें कही थीं। वह भारत अब भी जीवित है,...वह मरा नहीं है, और वह जीवित भारत आज भी बिना किसी भय या अमीर की कृपा के, बिना किसी के मत की परवाह किये—चाहे वह अपने देश में हो, जहाँ उसके पैरों में जंजीर पड़ी है या वहाँ जहाँ उस जंजीर का सिरा हाथ में पकड़े उसका शासक है—अपना सन्देश देने का साहस रखता है। वह भारत अब भी जीवित है...—अमर प्रेम और शाश्वत निष्ठा का वह अपरिवर्तनीय भारत, अपने रीति-रिवाजों में ही नहीं, वरन् उस प्रेम, निष्ठा और मैत्री भाव में भी! और उसी भारत की सन्तानों में से एक नगण्य मैं आपको प्यार करता हूँ,...'भारतीय प्रेम' की भावना से प्यार करता हूँ, और आपको इस भ्रमजाल से मुक्त करने के लिए हजारों तन न्यौछावर कर सकता हूँ।

सदैव आपका,

विवेकानन्द

○

'समन्वय' का ध्येय

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द की बड़ी साध थी कि रामकृष्ण मठ-मिशन की ओर से हिन्दी में एक नियतकालिक प्रसिद्ध हो। पर उनकी यह इच्छा उनके जीवनकाल में पूरी न हो सकी। किन्तु सन् १९२१ में 'समन्वय' नाम से एक हिन्दी मासिक श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सहयोग से अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा निकाला गया, जो ८ वर्ष चला। स्वामी विवेकानन्द ने मठ-मिशन का बँगला मुखपत्र 'उद्बोधन' १४ जनवरी १८९९ को निकालते समय जो आशीर्वादात्मक एवं नीति-निर्णायक लेख उपोद्घात के रूप में लिखा था, उसी को 'समन्वय' के प्रथम अंक में अनुवाद करके मुख्य लेख (सम्पादकीय) के रूप में प्रकाशित किया गया था। आज जब हम 'विवेक-ज्योति' का 'रजत जयन्ती विशेषांक' निकाल रहे हैं, तब उसी ऐतिहासिक लेख को पाठकों के समक्ष अविकल रूप में रख रहे हैं। —स०)

भारत की प्राचीन कथाएँ एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, विचित्र चेष्टा, असीम उत्साह, अप्रतिहत शक्तिसमूह, इन सबसे बढ़कर, अत्यन्त गम्भीर चिन्ताओं से परिपूर्ण हैं। राजे-रजवाड़ों की कथाएँ और उनके काम-क्रोध-व्यसनादि के द्वारा कुछ समय के लिए डाँवाँडोल और उनकी सुचेष्टा या कुचेष्टा से रंग बदलते हुए सामाजिक चित्र प्राचीन भारत के इतिहास में सम्भवतः हैं ही नहीं। किन्तु भूख-प्यास, काम-क्रोध आदि से परिचालित, सौन्दर्य की तृष्णा से आकृष्ट, महान् अप्रतिहत बुद्धि तथा नाना प्रकार के भावों से युक्त एक बहुत बड़े जनसंघ ने प्रायः सभ्यता के आरम्भ से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के पन्थों का अवलम्बन कर पूर्णता की अवस्था को प्राप्त किया था।,भारत के धर्मग्रन्थ काव्यसमुद्र, दर्शनशास्त्र और

विविध वैज्ञानिक पुस्तकें, राजादि पुरुष-विशेषों के वर्णन से युक्त पुस्तकों की अपेक्षा लाखोंगुना अधिक स्पष्ट भाव से, भारत के अभ्युदय के क्रम-विकास का गुणगान अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से कर रही हैं। प्राचीन भारत-वासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तरव्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकाएँ संग्रह की थीं, वे झंझावात के झकोरे में पड़कर जीर्ण होती हुई भी भारत के अतीत गौरव की जय-घोषणा कर रही हैं।

आर्य मध्य एशिया, उत्तर यूरोप अथवा सुमेरु पर्वत के निकटवर्ती बर्फीले प्रदेशों से भारतभूमि में पधारे अथवा यही पवित्र तीर्थ उनकी जन्मभूमि थी—इसके निश्चय करने का अब तक भी कोई साधन उपलब्ध नहीं है। अथवा, भारतवर्ष की ही, या भारतवर्ष की सीमा के बाहर देश में रहनेवाली एक विराट् जाति ने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थानभ्रष्ट होकर यूरोपादि देशों में उपनिवेश स्थापित किये—और इस जाति के मनुष्यों का रंग सफेद था या काला, आँखें नीली थीं या काली, बाल सुनहरे थे या काले—इन बातों को निश्चयात्मक रूप से जानने के लिए कतिपय यूरोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा के सादृश्य के अतिरिक्त कोई यथेष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। वर्तमान भारतवासी उस विराट् जाति के मनुष्यों के ही वंशज हैं या नहीं अथवा भारत की किस जाति में किस परिमाण में उनका रक्त है, इन प्रश्नों की मीमांसा सहज नहीं है।

इन प्रश्नों की अनिश्चित मीमांसा भी हमारी विशेष क्षति नहीं करती। पर एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जो जातियाँ सभ्यता-सूर्य की रश्मियों से

प्रफुल्लित हुईं और जिन देशों में विचारशीलता का पूर्ण विकास हुआ, उन जातियों और स्थानों में अब भी उनके लाखों वंशज—मानसपुत्र—उनके ही विचारों से युक्त मौजूद हैं। नदी, पर्वत और समुद्र लाँघ, देश-काल की बाधाओं को तुच्छ बनाकर, स्पष्ट अथवा अज्ञात अनिर्वचनीय सूत्र से भारतीय विचारों की रुधिरधारा धरातल पर रहनेवाली अन्य जातियों की नसों में बही और अब भी बह रही है।

शायद हमारे हिस्से में सार्वभौमिक पैतृक सम्पत्ति का कुछ अधिक अंश है।

भूमध्य सागर के पूर्व की ओर सुन्दर द्वीपमाला-परिवेष्टित, प्रकृति के सौन्दर्य से विभूषित एक छोटे देश में, थोड़े किन्तु सर्वांगसुन्दर, सुगठित, मजबूत, अटल अध्यवसायी, प्रतिभाशाली मनुष्यों की एक जाति थी। अन्य प्राचीन जातियाँ उनको 'यवन' कहती थीं, किन्तु वे अपने को 'ग्रीक' कहते थे। मानवी इतिहास में ये थोड़े अलौकिक वीरोंवाली जाति एक अपूर्व दृष्टान्त है। जिस देश के मनुष्यों ने पार्थिव विद्या, समाज-नीति, युद्ध-नीति, देश-शासन, भास्कर्य आदि शिल्प में उन्नति की है या जहाँ अब भी उन्नति हो रही है, वहाँ ग्रीस की ही छाया पड़ रही है। प्राचीन काल की बात छोड़ दीजिए, आधुनिक समय में भी आधी शताब्दी से इन यवन गुरुओं का पादानुसरण करके यूरोपीय साहित्य के द्वारा जो ग्रीसवालों का प्रकाश आया है, उसी प्रकाश से अपने गृहों को उज्ज्वल करके आधुनिक बंगाली अभिमान और स्पर्धा का अनुभव कर रहे हैं।

समग्र यूरोप आज सब विषयों में प्राचीन ग्रीस का

छात्र और उत्तराधिकारी है; यहाँ तक कि एक इँग्लैण्ड के विद्वान् ने कहा भी है, "जो कुछ प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किया है, वह ग्रीसवालों की सृष्टि है।"

सुदूर-स्थित विभिन्न पर्वतों से उत्पन्न इन दो महानदों (भारतीय और ग्रीक) का संगम हुआ, और जब भी इस प्रकार का संगम होता है, तब जन-समाज में एक महा आध्यात्मिक तरंग उठकर सभ्यता की रेखा दूर-दूर तक विस्तार करती है और मानव-समाज में भ्रातृत्व-बन्धन को दृढ़ कर देती है।

अत्यन्त प्राचीन काल में एक बार भारतीय दर्शन-विद्या ग्रीक उत्साह के साथ मिलकर रूमी, ईरानी प्रभृति शक्तिशाली जातियों के अभ्युदय में सहायक हुई। सिकन्दर शाह के दिग्विजय के पश्चात् इन दोनों महा जयप्रपातों के संघर्ष ने मसीही आदि आध्यात्मिक तरंग से प्रायः अर्ध भूभाग को प्लावित किया। पुनः इस प्रकार के मिश्रण से अरब का अभ्युदय हुआ, जिससे आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी। ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान समय में भी पुनः इन दो महा शक्तियों का सम्मिलन-काल उपस्थित हुआ है।

इस बार इसका केन्द्र भारतवर्ष है। भारत की वायु शान्तिप्रधान है, यवनों की प्रकृति शक्तिप्रधान है; एक गम्भीर चिन्ताशील है, दूसरी अदम्य कार्यशील; एक का मूलमंत्र है 'त्याग', दूसरे का 'भोग'; एक की सब चेष्टाएँ भीतर की ओर हैं, दूसरी की बाहर की ओर; एक की प्रायः सब विद्याएँ आध्यात्मिक हैं, दूसरी की आधिभौतिक; एक मोक्ष की अभिलाषिणी है, दूसरी स्वाधीनता को प्यार करती है; एक इस संसार के सुख प्राप्त करने में निरुत्साह

है, और दूसरी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने में सचेष्ट है। एक नित्य सुख की आशा में इस लोक के अनित्य सुख की उपेक्षा करती है, दूसरी नित्य सुख में शंका करके अथवा उसको दूर जानकर यथासम्भव ऐहिक सुख प्राप्त करने में उद्यत रहती है। इस युग में पूर्वोक्त दोनों ही जातियों का तो लोप हो गया है, केवल उनकी शारीरिक अथवा मानसिक सन्तान ही वर्तमान हैं।

यूरोप, अमेरिका-वासी यवनों की समुन्नत मुखोज्ज्वल-कारी सन्तान हैं; पर दुःख है कि आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्य-कुल के गौरव नहीं हैं।

किन्तु राख से ढकी हुई अग्नि के समान इन आधुनिक भारतवासियों में भी छिपी पैतृकशक्ति अब भी विद्यमान है। यथासमय, महाशक्ति की कृपा से उसका पुनः स्फुरण होगा।

प्रस्फुरित होकर क्या होगा ?

क्या पुनः वैदिक यज्ञधूम से भारत का आकाश मेघावृत होगा ? अथवा पशुरक्त से रन्तिदेव की कीर्ति का पुनरुद्दीपन होगा ? गोमेध, अश्वमेध, देवर के द्वारा सुतोत्पत्ति आदि प्राचीन प्रथाएँ पुनः प्रचलित होंगी अथवा बौद्धकाल की भाँति फिर समग्र भारत संन्यासियों की भरमार से एक विस्तीर्ण मठ में परिणत होगा ? मनु का शासन पुनः क्या उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित होगा अथवा देश-भेद के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य के विचार का ही आधुनिक काल के समान प्रभुत्व रहेगा ? क्या जातिभेद गुणानुसार होगा अथवा सदा के लिए जन्म के अनुसार ही रहेगा ? जातिभेद के अनुसार भोजन सम्बन्ध में छुआछूत का विचार

बंगदेश के समान रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तों के समान महान् कठोर रूप धारण करेगा अथवा पंजाब आदि प्रदेशों के समान यह एकदम दूर हो जायगा? भिन्न-भिन्न वर्णों का विवाह मनु-उक्त अनुलोम-क्रम से—जैसे नेपालादि देशों में आजकल प्रचलित है—पुनः सारे देश में प्रचलित होगा अथवा बंग आदि देशों के समान एक ही वर्ण के अवान्तर भेदों में ही प्रतिबद्ध रहेगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। विभिन्न देशों में, यहाँ तक कि एक ही देश में भिन्न-भिन्न जातियों और वंश के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी कठिन जान पड़ती है।

तब क्या होगा?

जो हमारे पास है, शायद जो पहले नहीं था, जो यवनों के पास था, जिसका स्पन्दन यूरोपीय विद्युदाधार (डाइनेमो) से उस महाशक्ति को बड़े वेग से उत्पन्न कर रहा है जिसका संचार समस्त भूमण्डल में हो रहा है, हम उसी रजोगुण को चाहते हैं। हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता की इच्छा, वही आत्मावलम्बन, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। सदा बीती बातों की उधेड़बुन छोड़ अनन्त तक फैली अग्रसर दृष्टि की हम कामना करते हैं और सिर से पैर तक की सब नसों में बहनेवाले रजोगुण की उत्कट इच्छा रखते हैं।

त्याग की अपेक्षा और अधिक शान्तिदायी क्या हो सकता है? अनन्त सुख की तुलना में क्षणिक ऐहिक सुख निःसंशय अत्यन्त तुच्छ है। सत्त्वगुण की अपेक्षा महाशक्ति का संचय और किससे हो सकता है? यह वास्तव में सत्य

है कि अध्यात्म-विद्या की तुलना में और सब चीजें 'अविद्याएँ' हैं; किन्तु इस संसार में कितने मनुष्य सत्त्व-गुण प्राप्त करते हैं? इस भारतभूमि में ऐसे कितने मनुष्य हैं? कितने मनुष्यों में ऐसा महावीरत्व है, जो ममता को छोड़कर सर्वत्यागी हो सकें? वह दूरदृष्टि कितने मनुष्यों के भाग्य में है, जिससे सब ऐहिक सुख तुच्छ विदित होते हैं? वह विशाल हृदय कहाँ है, जो भगवान् के सौन्दर्य और महिमा की चिन्ता में अपने शरीर को भी भूल जाता है? जो ऐसे हैं भी, वे समग्र भारत की जनसंख्या की तुलना में मुट्ठी भर ही हैं। इन थोड़े मनुष्यों की मुक्ति के लिए करोड़ों नर-नारियों को सामाजिक और आध्यात्मिक चक्र के नीचे पिस जाना होगा क्या? और इस प्रकार पिसे जाने से फल भी क्या होगा?

क्या तुम देखते नहीं हो कि इस सत्त्वगुण के बहाने से देश धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है? जहाँ महा जड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं, जहाँ जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है, जहाँ क्रूर कर्मवाले तपस्यादि का स्वाँग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं, जहाँ अपनी कमजोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने में तत्पर है, जहाँ कुछ पुस्तकों को कण्ठ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों की टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर, केवल पितृ-पुरुषों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है— यह सिद्ध करने के लिए हमको क्या और प्रमाण चाहिए?

अतएव सत्त्वगुण अब भी हमसे बहुत दूर है। हममें जो परमहंस पद प्राप्त करने योग्य नहीं है या जो भविष्य में योग्य होना चाहते हैं, उनके लिए रजोगुण की प्राप्ति ही परम कल्याणकर है। बिना रजोगुण के द्वारा क्या कोई सत्त्वगुण प्राप्त कर सकता है? बिना भोग के शेष हुए योग कर ही क्या सकता है? बिना वैराग्य के त्याग कहाँ से आवेगा?

दूसरी ओर रजोगुण ताड़ के पत्ते की आग की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। सत्त्व का अस्तित्व नित्य पदार्थ के निकट है, सत्त्व प्राय: नित्य-सा है। रजोगुणवाली जाति दीर्घजीवी नहीं होती, सत्त्वगुणवाली जाति चिरंजीवी-सी है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

भारत में रजोगुण का सर्वथा अभाव ही है; इसी प्रकार पाश्चात्य में सत्त्वगुण का अभाव है। इसलिए यह निश्चय हुआ है कि भारत से बही हुई सत्त्वधारा के ऊपर पाश्चात्य जगत् का जीवन निर्भर करता है; और यह भी निश्चित है कि बिना तमोगुण को रजोगुण के प्रवाह से दबाये, हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी विघ्न उपस्थित होंगे।

इन दोनों शक्तियों के सम्मिलन और मिश्रण की यथासाध्य सहायता करना इस पत्र का जीवनोद्देश्य है।

यह भय है कि इस पाश्चात्य वीर्य-तरंग में चिरकाल से अर्जित हमारे अमूल्य रत्न बह तो न जाएँगे? और उस प्रबल भँवर में पड़कर भारतभूमि भी ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि में बदल तो न जाएगी? असाध्य एवं असम्भव, जड़ से उखाड़ देनेवाले विदेशी

ढंग का अनुकरण करने से हमारी दो नावों के बीच में पड़ जानेवाली दशा हो जाएगी, और हम 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' के उदाहरण बन जाएँगे।

इसलिए हमें अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी; जिससे जनसाधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सके, हमको ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसी के साथ साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमको निर्भीक होकर अपने घर के सब दरवाजे खोल देने होंगे। संसार के चारों ओर से प्रकाश की किरण आवे, पाश्चात्य का तीव्र प्रकाश भी आवे। जो दुर्बल, दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही। यदि वह चला जाता है तो जावे, उससे हमको क्या हानि होगी? जो वीर्यवान्, बलप्रद है, वह अविनाशी है; उसका नाश कौन कर सकता है?

कितने पर्वत-शिखरों से कितनी ही हिम की नदियाँ, कितने ही झरने, जलधाराएँ निकलकर विशाल सुर-तरंगिणी के रूप में महावेग से समुद्र की ओर जा रही हैं। कितने विभिन्न प्रकार के भाव देश-देशान्तर के कितने साधु-हृदयों और ओजस्वी मस्तिष्कों से निकलकर असंख्य शक्ति-प्रवाह मनुष्यों के रंगक्षेत्र, कर्म-भूमि भारतवर्ष में छा रहे हैं। रेल, जहाज रूपी वाहन और बिजली की सहायता से अँगरेजों के आधिपत्य में बड़े ही वेग से नाना प्रकार के भाव और राजनीति देश में फैल रही है। अमृत आ रहा है और उसी के साथ-साथ विष भी आ रहा है। क्रोध, कोलाहल और रक्तपात आदि सभी हो चुके हैं, पर इस तरंग को रोकने की शक्ति हिन्दू समाज में नहीं है। यंत्र से उठाये हुए जल से लेकर हड्डियों से साफ की हुई चीनी

तक सब पदार्थों को बहुत मौखिक प्रतिवाद करते हुए भी सब चुपचाप ग्रहण कर रहे हैं। कानून के प्रबल प्रभाव से अत्यन्त यत्न से रक्षित हमारी बहुत-सी रीतियाँ धीरे-धीरे दूर होती जा रही हैं—उनकी रक्षा करने की शक्ति हममें नहीं है। हममें शक्ति क्यों नहीं है? क्या सत्त्व वास्तव में शक्तिहीन है? 'सत्यमेव जयते नानृतम्'—सत्य की जय होती है, न कि झूठ की—यह वेदवाणी क्या मिथ्या है? अथवा जो पाश्चात्य शासन-शक्ति या शिक्षा-शक्ति के प्रभाव से चले जा रहे हैं—वे आचार ही अनाचार थे क्या? यह भी विशेष रूप से विचारने का विषय है।

'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'—निःस्वार्थ भाव से, भक्तिपूर्ण हृदय से इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिए यह पत्र सहृदय, प्रेमी, बुधमण्डली को आह्वान करता है एवं द्वेष-बुद्धि छोड़ व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्य-प्रयोग से विमुख होकर इन सम्प्रदायों की सेवा के ही लिए अपना शरीर अर्पण करता है।

कर्म करने का अधिकार मात्र हमारा है, फलाफल के दाता प्रभु हैं। हम केवल प्रार्थना करते हैं—"हे तेज-स्वरूप! हमको तेजस्वी बनाओ; हे वीर्यस्वरूप! हमको वीर्यवान् बनाओ; हे बलस्वरूप! हमको बलवान् बनाओ।"

\+ + +

तेईस वर्ष हुए पूर्वोक्त लेख स्वामी विवेकानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्बोधन' की प्रस्तावना में लिखा था। 'समन्वय' का भी यही उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'समन्वय' चेष्टा भी करेगा। इसके सम्मुख एक कार्य और है; वह यह कि

समन्वयाचार्य भगवान् श्रीरामकृष्ण के आगमन के पहले संसार भर में यही भाव था कि केवल एक ही प्रकार का धर्म सत्य हो सकता है। सत्य को इस प्रकार की संकीर्ण दृष्टि से देखने के कारण विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों में, जो अपने ही विश्वास को एकमात्र सत्य समझते हैं, घृणा और झगड़े उत्पन्न हुए। श्रीरामकृष्ण की अलौकिक अनुभूति ने ही सब धर्मों की सत्यता यह कहकर स्पष्ट प्रकट कर दी कि भिन्न-भिन्न धर्म एक ही ब्रह्म की ओर जानेवाले नाना प्रकार के मार्ग हैं। 'समन्वय' इसी सत्य के ऊपर खड़ा होकर संसार के समस्त सम्प्रदायों को एकता-सूत्र में आबद्ध करने के लिए प्रयत्न करेगा। संक्षेप में, 'समन्वय' श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के विचारों को उचित और उत्तम रीति से हिन्दी-संसार के सम्मुख रखेगा।

यह कहना अनावश्यक होगा कि इसकी सफलता इसके पाठकों की सहानुभूति और सहयोग पर निर्भर है। भगवान् हमको अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए यथोचित बल प्रदान करें और इस क्षुद्र साधन द्वारा देश में अपनी कृपा-सुधा वर्षण करें, यही हमारी अभिलाषा है।

○

"मैं इस सिद्धान्त से असहमत हूँ कि प्रकृति के नियमों का पालन ही मुक्ति है। मैं नहीं समझता कि इसका क्या अर्थ हो सकता है। मनष्य की प्रगति के इतिहास के अनुसार, प्रकृति के उल्लंघन से ही उस प्रगति का निर्माण हुआ है।"

—स्वामी विवेकानन्द

पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी निखिलेश्वरानन्द
(रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ, हावड़ा)

(१)

स्वामी विवेकानन्द की बहुमुखी प्रतिभा तथा विशाल व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों की चर्चा अनेकों ने की है—किसी ने महान् सन्त के रूप में, किसी ने महान् देशभक्त के रूप में, तो किसी ने समाज-सुधारक के रूप में। किन्तु उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का पत्रकारिता का पक्ष प्रायः अज्ञात ही है। कई लोगों को शायद स्वामीजी को एक पत्रकार के रूप में चित्रित करना हास्यास्पद भी लगे, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने जीवनकाल में ही स्वामीजी ने कम से कम छः पत्रिकाओं का प्रवर्तन किया था तथा और भी कई पत्रिकाओं के प्रकाशन में सहायता एवं प्रेरणा प्रदान की थी। उनके देहत्याग के बाद भी, उन्हीं की प्रेरणा से, उनकी भावधारा को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए देश-विदेश में विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं और आज भी हो रही हैं। इतिहास में ऐसा दृष्टान्त विरल है कि एक आध्यात्मिक महापुरुष ने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश तथा शक्ति पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तन में लगायी हो तथा कठोर परिश्रम कर अपना एवं अपने अनुयायियों का रक्त ढालकर पत्रिकाओं को सिंचित किया हो। एक सन्त होकर भी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में उनका कितना आग्रह था; किस प्रकार उन्होंने पत्रिकाओं के प्रवर्तन के लिए कठोर परिश्रम किया; अपने लेखों द्वारा, आर्थिक सहायता द्वारा तथा, सर्वोपरि, प्रचण्ड उत्साह एवं प्रेरणा के संचार द्वारा इनके प्रकाशन में कितनी

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा पत्रकारिता सम्बन्धी उनके मौलिक विचार वर्तमान काल में भी कितने अर्थपूर्ण हैं—इन्हीं सब पक्षों के उद्घाटन का विनम्र प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

(२)

पत्रकारिता में स्वामीजी की अभिरुचि तरुणावस्था से ही थी। नरेन्द्रनाथ दत्त के रूप में उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्य श्री उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को एक पत्रिका प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया था।

पत्रिकाओं के प्रवर्तन की उनकी इच्छा अमेरिका-गमन के बाद और भी बलवती हुई थी। अमेरिका में प्रसिद्धि पाने के बाद उनको लेकर पूरे भारतवर्ष में जो उत्साह की विशाल तरंग उठी थी, स्वामीजी उसका उपयोग श्रीरामकृष्णदेव द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के प्रचार में करना चाहते थे। बिना किसी समझौते के सत्य का प्रचार, उनके सम्बन्ध में जो भ्रामक प्रचार ईसाई मिशनरियों द्वारा किया जा रहा था उसका विरोध, अपने आदर्शों का प्रचार तथा अन्य कई कारणों से उनका मन इस ओर विशेष उन्मुख हुआ था।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के विचारों से उन दिनों स्वामीजी का मन कितना ओत-प्रोत था इसका कुछ अनुमान उनके पत्रों के अध्ययन से होता है। अँगरेजी में ही नहीं, बँगला, हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं में भी वे पत्रिकाएँ प्रकाशित करना चाहते थे। अपने मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल को उन्होंने २९ सितम्बर १८९४ को लिखा था—"यदि हो सके तो समाचार-पत्र और मासिक पत्रिका दोनों ही निकालो। मेरे जो भाई चारों तरफ घूम-

फिर रहे हैं, वे ग्राहक बनाएँगे—मैं भी बहुत ग्राहक बनाऊँगा और बीच-बीच में कुछ रुपया भेजूँगा। पल भर के लिए भी विचलित न होना—सब ठीक हो जायगा।"[१] यद्यपि समाचार-पत्र प्रकाशित करने की स्वामीजी की इच्छा कभी फलीभूत न हो पायी, तथापि उनके जीवनकाल में तथा बाद में भी उनकी प्रेरणा से देश-विदेश में विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई या हो रही हैं। (सम्पूर्ण सूची के लिए परिशिष्ट देखें।)

(३)

अपने एक गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्दजी को एक अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र (२५ सितम्बर १८९४) में स्वामीजी ने लिखा था—"तुम लोगों को एक मासिक पत्रिका का सम्पादन करना होगा। उसमें आधी बँगला रहेगी और आधी हिन्दी—हो सके तो एक अँगरेजी में भी।"[२] एक अन्य गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी को एक पत्र (१८९५) में लिखा था—"यज्ञेश्वरबाबू ने मेरठ में कोई सभा स्थापित की है। वे हम लोगों के साथ मिलकर कार्य करना चाहते हैं। सुना है कि उनकी कोई पत्रिका भी है। काली (स्वामी अभेदानन्द) को वहाँ भेज दो। यदि हो सके तो वह वहाँ जाकर एक केन्द्र स्थापित करे और जिससे हिन्दी में उस पत्रिका का प्रकाशन हो ऐसा प्रयत्न करे। बीच-बीच में मैं कुछ रुपया भेजता रहूँगा।"[३] भले ही स्वामीजी की यह इच्छा उनके जीवनकाल में फलीभूत न हो पायी,

१. 'पत्रावली', प्रथम भाग (रामकृष्ण मठ, नागपुर), च.सं., पृ. १८५।
२. वही, पृ. १७८।
३. वही, पृ. ४०८।

किन्तु सन् १९२१ में अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष स्वामी माधवानन्दजी (परवर्ती काल में रामकृष्ण संघ के नवम अध्यक्ष) द्वारा 'समन्वय' नामक एक मासिक पत्रिका हिन्दी में प्रारम्भ की गयी थी। इसमें प्रसिद्ध साहित्यकार श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का भी सक्रिय सहयोग था; सम्पादन का अधिकांश कार्य उन्हीं के द्वारा किया जाता था, यद्यपि पत्रिका में सम्पादक के रूप में स्वामी माधवानन्दजी का नाम रहता था। इसका प्रथम अंक सौर माघ विक्रम संवत् १९७८ में प्रकाशित हुआ (वार्षिक मूल्य ३), प्रति संख्या पाँच आना)। इसकी प्रस्तावना में स्वामी विवेकानन्द द्वारा बँगला पत्रिका 'उद्‌बोधन' की प्रस्तावना के रूप में लिखित सम्पूर्ण लेख को उद्‌धृत करने के बाद कहा गया था—"तेईस वर्ष हुए पूर्वोक्त लेख स्वामी विवेकानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्‌बोधन' की प्रस्तावना में लिखा था। 'समन्वय' का भी यही उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'समन्वय' चेष्टा भी करेगा . . .।"[४] (पिछला लेख देखें।)

पुराने अंकों के अवलोकन से पता चलता है कि इसमें दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा हिन्दी भाषा से सम्बन्धित प्रसिद्ध साहित्यकारों के लेख रहा करते थे। समाचारों के लिए एक अलग स्तम्भ था तथा विभिन्न प्रकार की अन्य रोचक सामग्री रहा करती थी, जिससे पत्रिका ने अपने उद्देश्य को फलीभूत करने में यथार्थ सफलता प्राप्त की थी, किन्तु खेद ! आठ वर्षों बाद इसका प्रकाशन किन्हीं कारणों से बन्द हो गया।

---

४. 'समन्वय' (समन्वय कार्यालय, २८ कालेज स्ट्रीट मार्केट, कलकत्ता), वर्ष १ अंक १, सौर माघ वि.सं. १९७८ (सन् १९२१)।

इसके पश्चात् हिन्दी जगत् में कई वर्षों तक रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के सम्बन्ध में अन्धकार ही बना रहा, जब तक कि 'विवेक-ज्योति' की ज्योति ने आकर उसे दूर नहीं किया। सन् १९६३ ई. में स्वामी आत्मानन्द के भगीरथ प्रयत्न से विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.) द्वारा यह हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका प्रारम्भ हुई। उत्तरोत्तर लोकप्रियता प्राप्त कर यह पत्रिका रजत जयन्ती वर्ष में प्रवेश कर चुकी है और उसका यह प्रस्तुत अंक 'रजत जयन्ती विशेषांक' है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि इस पत्रिका के आज लगभग ३,००० आजीवन ग्राहक हैं और लगभग ५,००० वार्षिक ग्राहक।

हिन्दी जगत् के इस अन्धकार को दूर करने के लिए एक शिखा का भी प्रादुर्भाव हुआ है। स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त कर डा० केदारनाथ लाभ छपरा (बिहार) से एक हिन्दी मासिक पत्रिका 'विवेक शिखा' सन् १९८२ से प्रकाशित कर रहे हैं। फिलहाल इसकी सदस्य संख्या कम होने पर भी यह उच्चस्तरीय पत्रिका उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती जा रही है तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही है।

कुछ वर्षों पूर्व विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी द्वारा हिन्दी मासिक पत्रिका 'केन्द्र भारती' प्रारम्भ की गयी थी, किन्तु कुछ काल पश्चात् किन्हीं कारणों से इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

(४)

स्वामी विवेकानन्दजी की पत्रिका-प्रवर्तन की इच्छा को फलीभूत करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे उनके मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल। धन्य हो आलासिंगा! इति-

हास में तुम्हारा नाम अमर रहेगा। स्वामीजी के अग्नि-मंत्रयुक्त प्रेरणादायी अधिकांश पत्र इन्हीं को सम्बोधित कर लिखे गये थे। ११ जुलाई १८९४ के पत्र में स्वामीजी ने आलासिंगा को मद्रास से अँगरेजी में एक पत्रिका प्रकाशित करने की उनकी इच्छा का अनुमोदन करते हुए लिखा था—"जिससे पत्रिका शीघ्र प्रकाशित हो सके इसकी व्यवस्था करो—मैं बीच-बीच में प्रबन्ध भेजता रहूँगा।"[५] ३१ अगस्त १८९४ के पत्र में उन्होंने पत्रिका की आर्थिक व्यवस्था का भार भी अपने कन्धों पर लेते हुए फिर लिखा—"कोई एक छोटी-सी समिति स्थापित करो और उसके मुखपत्रस्वरूप एक नियतकालिक पत्रिका निकालो—तुम उसके सम्पादक बनो। पत्रिका-प्रकाशन तथा प्रारम्भिक कार्य के लिए कम से कम कितना व्यय होगा, इसका विवरण मुझे भेजना तथा समिति का नाम एवं पता भी लिखना। इस कार्य के लिए न केवल मैं ही स्वयं सहायता करूँगा अपितु यहाँ के और लोगों से भी अधिक से अधिक वार्षिक चन्दा भिजवाने की व्यवस्था करूँगा।"[६] २९ सितम्बर १८९४ को पुनः उन्होंने लिखा—"मासिक पत्रिका निकालने का तुम्हारा जो संकल्प था, उसे न छोड़ना।"[७] ६ मई १८९५ के पत्र में उन्होंने पत्रिका की आर्थिक व्यवस्था करने का आश्वासन दिया और अन्य उपयोगी सुझाव भी—"वत्स, अब काम करो, एक माह के भीतर में पत्रिका के लिए कुछ धन भेज सकूँगा। हिन्दू भिखारियों से भिक्षा मत माँगो। मैं अपने मस्तिष्क और

५. 'पत्रावली', प्रथम भाग, पृ. १४८।
६. वही, पृ. १६३।
७. वही, पृ. १८५।

बाहुबल द्वारा ही स्वयं सब करूँगा।... पत्रिका को बकवादी न होना चाहिए; परन्तु शान्त स्थिर और उच्च आदर्श-युक्त।... उत्तम और नियमित रूप से लिखनेवाले लेखकों का दल ढूँढ़ लो।"[८]

स्वामीजी ने एक माह के भीतर ही पत्रिका के लिए धन भिजवाया। २८ मई १८९५ को आलासिंगा को उन्होंने लिखा—"मैं इसके साथ सौ डालर भेज रहा हूँ। आशा है इसके द्वारा पत्र-प्रकाशन में तुम्हें कुछ सहायता मिलेगी, अनन्तर क्रमशः और भी कुछ सहायता कर सकूँगा।"[९] इतने पर भी मिशनरियों के भय से जब आलासिंगा पत्रिका प्रकाशित करने में विलम्ब करने लगे, तब स्वामीजी ने पुनः १ जुलाई १८९५ को लिखा—"तुम लोग जल्दी ही पत्रिका प्रकाशित कर डालो। जैसे भी हो मैं बहुत शीघ्र ही तुम लोगों को और रुपये भेज रहा हूँ तथा बीच-बीच में भेजता रहूँगा। कार्य करतेचलो। अपनी जाति के लिए कुछ करो—इससे वे लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। पहले मिशनरियों के विरुद्ध चाबुक लेकर उनकी खबर लो। तब समग्र जाति तुम्हारे साथ होगी।"[१०]

आलासिंगा ने मद्रास के अपने अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर इस पत्रिका का नाम 'ब्रह्मवादिन्' तथा ध्येय-वाक्य 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' चुना। स्वामीजी ने इसका अनुमोदन करते हुए तथा उत्साह देते हुए ३० जुलाई १८९५ के पत्र में आलासिंगा को लिखा—"तुमने ठीक किया है। नाम तथा मोटो (ध्येय-वाक्य) दोनों ही ठीक हैं।... तुम्हारे पत्र के लिए 'संन्यासी का गीत' ही

८. वही, पृ. ३१५। ९. वही, पृ. ३२३।
१०. वही, पृ. ३३४।

मेरा पहला लेख है। निरुत्साह न होना और अपने गुरु तथा ईश्वर में विश्वास न खोना।...हे साहसी बालको, कार्य करते रहो।"[११]

पर इतना सब होने पर भी जब पत्रिका नहीं निकली, तो स्वामीजी अधीर हो उठे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी को ४ अक्तूबर १८९५ के पत्र में लिखा—"मद्रासवाले, जान पड़ता है, पत्रिका न निकाल सके। हिन्दू जाति में व्यवहार-कुशलता बिलकुल ही नहीं है। जिस समय जिस काम के लिए प्रतिज्ञा करो, ठीक उसी समय उसे करना चाहिए, नहीं तो लोगों का विश्वास उठ जाता है।"[१२] स्वामीजी को क्या मालूम कि इस बीच 'ब्रह्मवादिन्' (पाक्षिक पत्रिका) का पहला अंक १४ सितम्बर को प्रकाशित हो चुका था तथा उस समय जहाज में यात्रा कर रहा था! २४ अक्तूबर को उन्होंने आलासिंगा को लिखा—" 'ब्रह्म-वादिन्' के दो अंक मिले। बहुत अच्छा, इसी प्रकार किये जाओ। पत्रिका के मुखपृष्ठ को कुछ अच्छा करने का प्रयत्न करो और संक्षिप्त सम्पादकीय मन्तव्यों की भाषा को कुछ सरल किन्तु भावों को उज्ज्वल करने का प्रयत्न करो। क्लिष्ट भाषा और छन्दों को केवल मुख्य लेखों के लिए रख छोड़ो।"[१३]

स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि सदा 'ब्रह्मवादिन्' की ओर थी। अनेक पत्रों द्वारा उन्होंने पत्रिका के बारे में व्याव-हारिक सुझाव दिये तथा आर्थिक सहायता भी प्रदान की। अपने मित्रों को भी इसकी सदस्यता के लिए अनुरोध

११. वही, पृ. ३३६। १२. वही, पृ. ३५८।
१३. शंकरी प्रसाद बसु : 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष', पंचम खण्ड, पृ. ८।

किया । आलासिंगा को उन्होंने सलाह दी कि विज्ञापन के द्वारा पत्रिका की आर्थिक स्थिति सुधर सकती है ।"[१४] ६ अगस्त १८९६ को स्वामीजी ने स्विट्झरलैंड से आलासिंगा को उत्साहित करते हुए पत्र लिखा—"तुम्हारे पत्र से 'ब्रह्मवादिन्' की आर्थिक दुर्दशा का समाचार विदित हुआ । लन्दन लौटने पर तुम्हें सहायता भेजने की चेष्टा करूँगा । तुम अपनी गति धीमी न करना—पत्र का प्रकाशन चालू रखना;...डरने की कोई बात नहीं है, सभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे । वत्स ! साहस का अवलम्बन करो । 'ब्रह्मवादिन्' एक रत्न-विशेष है, इसे कभी भी नष्ट नहीं होने दिया जायगा । यह ठीक है कि ऐसी पत्रिकाओं को सदा निजी दान से ही जीवित रखना पड़ता है, हम भी वैसा ही करेंगे... । कार्य करते रहो ... । तुम्हारी सहायता के लिए प्रभु तुम्हारे पीछे खड़े हैं ।"[१५] पुनः स्वामीजी ने आलासिंगा को सफलता का रहस्य बताते हुए लिखा—"अपने कार्य के प्रति पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए । यह जानकर कि 'ब्रह्मवादिन्' की सफलता से ही तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी, इस पत्रिका को अपना इष्टदेवता बना लो और तब तुम देखोगे कि सफलता तुम्हें कैसे मिल रही है ।"[१६]

एक वर्ष तक पाक्षिक पत्रिका के रूप में 'ब्रह्मवादिन्' को प्रकाशित करने के बाद आलासिंगा ने उसे मासिक पत्रिका में बदलना चाहा, किन्तु स्वामीजी ने इसका अनुमोदन नहीं किया । २२ सितम्बर १८९६ के पत्र में उन्होंने

१४. वही, पृ. ८ ।

१५. 'पत्रावली', द्वितीय भाग, पृ. ११-१२ ।

१६. वही, पृ. १३ ।

आलासिंगा को लिखा—"प्रचुर लेखों द्वारा पत्रिका का आकार बड़ा कर सकोगे ऐसा भरोसा यदि न हो तो उसे अभी मासिक पत्रिका के रूप में रूपान्तरित करना मुझे अच्छा नहीं लगता। अब तक तो पत्रिका का आकार या लेख आशानुरूप नहीं है। अभी भी एक बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है, जो छुआ तक नहीं गया है, और वह है तुलसीदास, कबीर, नानक तथा दक्षिण भारत के सन्तों के जीवन-चरित्र। और ये जीवन-चरित्र अच्छे प्रकार विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखे जाने चाहिए, न कि ऐसे ही मामूली तौर से अव्यवस्थित रूप से।"[१७] किन्तु कुछ काल बाद यह मासिक पत्रिका के रूप में परिणत हो गयी और आलासिंगा की की मृत्यु के बाद सन् १९१४ में बन्द ही हो गयी।

यह है 'ब्रह्मवादिन्' की आत्मकथा—ज्वलन्त आदर्शवाद, आत्म-प्रकाश और आत्म-विस्तार का कठोर संघर्ष। किन्तु उसका बाह्य कलेवर प्रशंसा का अजस्र वर्षण प्राप्त कर सका था तथा देश-विदेश में उसने पर्याप्त सम्मान पाया था। प्रो० मैक्समूलर ने भी इसकी प्रशंसा की थी। 'मद्रास टाइम्स' (२० फरवरी १८९६) संवादपत्र ने मतव्य किया था—

"It is a scholarly exponent of philosophical Hinduism, and is of considerable literary merit. It has largely met with commendation from high quarters, none other than professor Max Muller."[१८]
—'यह पत्रिका दार्शनिक हिन्दूधर्म का विद्वत्तापूर्ण भाष्य

१७. 'समकालीन भारतवर्ष', पंचम खण्ड, पृ. १२।
१८. वही, पृ. १८-१९।

करनेवाली है और साहित्यिक गरिमा से युक्त है। हाल में कई विद्वानों से इसे प्रशंसा मिली है, जिनमें प्रोफेसर मैक्समूलर का नाम उल्लेखनीय है।'

'मद्रास मेल' (७ जुलाई १९०२) ने इसे भारत की अग्रणी पत्रिका के रूप में मान्य करते हुए लिखा था—

"He (Swami Vivekananda) was instrumental in establishing Brahmavadin of Madras, which is an enlightened exponent of the Vedanta, is the leading magazine in India."[१९]—अर्थात् मद्रास की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के पीछे स्वामी विवेकानन्द का ही हाथ था; यह वेदान्त की प्रबुद्ध व्याख्या करनेवाली भारत की अग्रणी पत्रिका है।

(५)

'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका का स्तर इतना अधिक ऊँचा हो गया था कि भारत या विदेश में, जनसाधारण में इसका अधिक लोकप्रिय होना कठिन था। अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण लेख, क्लिष्ट भाषा, संस्कृत भाषा का अत्यधिक प्रयोग इत्यादि के विषय में आलासिंगा को सतर्क कर स्वामीजी ने लिखा था (२३ मार्च १८९६)—"मेरी सफलता का कारण मेरी लोकप्रिय शैली है—गुरु का विशेषत्व उसकी सरल भाषा में होता है।"[२०] एक और पत्र में इसी वर्ष उन्होंने अमेरिका से लिखा—"पुन: तुम लोगों को मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त पत्र (ब्रह्मवादिन्) इतना अधिक विशेषज्ञप्रिय बन चुका है कि यहाँ पर उसकी ग्राहक-संख्या बढ़ाने की आशा नहीं है।...किसी मतविशेष का

१९. वही, पृ. १८।
२०. 'पत्रावली', प्रथम भाग, पृ. ४२।

समर्थन किया जा रहा हो, ऐसी एक भी बात उसके सम्पादकीय लेख में नहीं रहनी चाहिए ।"[२१]

अतः आलासिंगा तथा उनके अन्य मद्रासी मित्रों ने, जिनमें नंजुन्दा राव प्रमुख थे, मिलकर जनसाधारण के लिए, विशेषकर युवावर्ग के लिए, एक और अँगरेजी पत्रिका निकालने का विचार किया। स्वामीजी ने डा० नंजुन्दा राव को एक अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र में लिखा था (१४ अप्रैल १८९६)—"लड़कों के लिए पत्रिका प्रकाशित करने का जो तुम विचार कर रहे हो, उससे मुझे पूर्ण सहानुभूति है और मैं उसकी सहायता करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगा । इसमें स्वाधीनता होनी चाहिए, 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका की पद्धति का अनुसरण करो, केवल तुम्हारी पत्रिका की लेखन-शैली और विषय उससे अधिक लोकप्रिय होने चाहिए । उदाहरणार्थ, संस्कृत साहित्य की विखरी हुई अद्भुत कहानियों को ले लो । उन्हें फिर से लोकप्रिय ढंग से लिखने का यह इतना बड़ा सुअवसर है कि जिसके महत्त्व को तुम स्वप्न में भी नहीं समझ सकते. . .।"[२२]

'ब्रह्मवादिन्' प्रारम्भ होने के दस माह बाद ही उक्त पत्रिका का 'प्रबुद्ध भारत' नाम से प्रकाशन प्रारम्भ हो गया । यह नाम सम्भवतः स्वामीजी का ही दिया हुआ था । स्वामीजी कई पत्रों द्वारा इस पत्रिका के लिए व्यावहारिक सुझाव तथा प्रेरणा देते रहे । २६ अगस्त १८९६ को उन्होंने डा० नंजुन्दा राव को लिखा—"जो कुछ तुम करते हो, उस

२१. वही, द्वितीय भाग, पृ. ५८ ।

२२. वही, प्रथम भाग, पृ. ४३१ ।

समय के लिए उसे अपनी पूजा समझो। इस समय इस पत्रिका को अपना ईश्वर बना लो और तुम्हें सफलता प्राप्त होगी।"[२३] विद्वान् युवक राजम अय्यर के सम्पादन में यह पत्रिका एक वर्ष में भारत की 'सर्वाधिक प्रचारित मासिक पत्रिका' हो गयी। प्रथम वर्ष के अन्त में इसके ४,५०० ग्राहक थे। चारों ओर से काफी प्रशंसा प्राप्त करने के बावजूद इसके प्रारम्भ होने के ठीक दो वर्षों बाद ही (जून १८९८) सम्पादकीय में लिखा गया—'विदाई'; कारण—विद्वान् सम्पादक श्री राजम अय्यर का आकस्मिक निधन। किन्तु दो माह के भीतर ही इसे नवीन उत्साह से पुनः प्रकाशित किया गया—इस बार रामकृष्ण मिशन के मुखपत्र के रूप में, क्योंकि इस बीच स्वामी विवेकानन्द ने विदेश से भारत लौटकर सन् १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर दी थी। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह पत्रिका आज ९० वर्ष बाद भी देश भर में धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी श्रेष्ठ अँगरेजी पत्रिका मानी जाती है। फिलहाल इसके लगभग २,००० वार्षिक ग्राहक तथा ८०० आजीवन सदस्य हैं।

(६)

'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध भारत' के अतिरिक्त और भी कुछ अँगरेजी पत्रिकाओं का प्रवर्तन स्वामीजी द्वारा इँग्लैण्ड तथा अमेरिका से हुआ था। ९ सितम्बर १८९५ को स्वामीजी ने आलासिंगा को लिखा था—"इँग्लैण्ड तथा अमेरिका दोनों ही जगहों से पत्रिका निकालने का मेरा विचार है। अतः अपने पत्र के लिए तुम लोगों को

२३. वही, द्वितीय भाग, पृ. २५।

पूर्णतया मुझ पर निर्भरशील नहीं होना चाहिए।"[२४]

इँग्लैण्ड में स्वामीजी के शिष्य श्री ई. टी. स्टर्डी ने वेदान्त पर एक पत्रिका आरम्भ करने की योजना बनायी थी, स्वामीजी भी उन्हें उत्साह देते थे। १० सितम्बर १८९६ को स्वामीजी ने कील (यूरोप) से स्टर्डी को लिखा—"आखिर प्राध्यापक डायसन महोदय से मेरी भेंट हुई...। मासिक पत्रिका सम्बन्धी तुम्हारी योजना से वे अत्यन्त आनन्दित हैं तथा इस बारे में तुम्हारे साथ लन्दन में चर्चा करना चाहते हैं, शीघ्र ही वे वहाँ जा रहे हैं।"[२५]

इँग्लैण्ड में वेदान्त पर यह पत्रिका कब, किस नाम से, कितने समय तक प्रकाशित हुई थी इसकी ठीक जानकारी अब तक संग्रह नहीं हो पायी है, किन्तु प्रकाशित हुई थी अवश्य। इसका पता चलता है स्वामीजी द्वारा आलासिंगा को लिखे पत्र (२० नवम्बर १८९६) से—"ऐसी पत्रिकाओं को अनुयायियों के छोटे से समुदाय द्वारा ही सहायता मिलती है। एक ही समय में उनसे अनेक कार्य करने की आशा नहीं करनी चाहिए। उनको पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं, इँग्लैण्ड का कार्य चलाने के लिए पैसा एकत्र करना पड़ता है; **यहाँ की पत्रिका के लिए ग्राहक ढूंढ़ने पड़ते हैं**; और फिर भारतीय पत्रिकाओं को खरीदना पड़ता है। यह बहुत ज्यादती है।"[२६]

अमेरिका में भी स्वामीजी गुडविन की सहायता से

---

२४. वही, प्रथम भाग, पृ. ३५२।

२५. वही, द्वितीय भाग, पृ. २८।

२६. 'विवेकानन्द साहित्य' (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता), खण्ड ५, द्वि.सं., पृ. ३९०।

एक मासिक पत्र निकालना चाहते थे । ५ जून १८९६ को उन्होंने श्रीमती ओलि बुल को लन्दन से लिखा था—"गुड-विन अमेरिका से एक मासिक पत्र प्रकाशित करने के सम्बन्ध में तुम्हें इस डाक से एक पत्र भेज रहा है । मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कार्य को जारी रखने के लिए इस प्रकार का आयोजन करना आवश्यक है । जिस रूप से वह कार्य करना चाहता है, मैं भी उसी रूप से उसमें सहायता प्रदान करने की यथासाध्य चेष्टा करूँगा ।"[२७] गुडविन की यह पत्रिका प्रकाशित हुई थी या नहीं पता नहीं, किन्तु स्वामीजी के जीवनकाल में अमेरिका से कम से कम दो पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं, ऐसा प्रतीत होता है । 'इण्डियन मिरर' (जुलाई १८९६) में अमेरिका से एक पत्रिका के प्रकाशन की सम्भावना की बात है; उसका प्रकाशन स्थान बताया गया था—१६८ ब्रेटल स्ट्रीट, कैम्ब्रिज, मेसाचुसेट्स (संयुक्त राज्य अमेरिका) । स्वामीजी के देहत्याग के कुछ पूर्व सन् १९०२ में कैलिफोर्निया से 'पैसिफिक वेदान्तिन' (Pacific Vedantin) नामक पत्रिका प्रकाशित हुई थी ।[२८]

स्वामीजी के देहत्याग के बाद भी उनकी भावधारा से अनप्राणित होकर अँगरेजी में कई पत्रिकाओं का प्रवर्तन अमेरिका में हुआ था, जिनमें 'वॉयस ऑफ फ्रीडम' (Voice of Freedom, सन् १९०९ से सन् १९१६ तक), 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट, (Vedanta and the West, द्विमासिक, १९३८ से १९७० तक), 'दि वॉयस ऑफ

२७. 'पत्रावली', प्रथम भाग, पृ. ४९ ।

२८. 'ब्रह्मवादिन्', अप्रैल १९२० ।

इण्डिया' (The Voice of India, मासिक, १९३१ से १९४६ तक) तथा 'मेसेज ऑफ दि ईस्ट' (Message of the East, त्रैमासिक, १९१२ से १९५५ तक) उल्लेखनीय हैं। रामकृष्ण मठ के लन्दन केन्द्र द्वारा इँग्लैण्ड से भी सन् १९५२ से एक अँगरेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट' प्रकाशित हो रही है, जो आज भी काफी लोकप्रिय है।

रामकृष्ण मठ के फ्रांस स्थित केन्द्र ग्रेट्ज़ (पेरिस) से सन् १९६२ से 'वेदान्त' नामक त्रैमासिक पत्रिका फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हो रही है। उसी प्रकार रामकृष्ण मठ के जापान स्थित केन्द्र द्वारा जापानी भाषा में एक द्विमासिक पत्रिका 'फुमेत्सु नो कोताबा' (जिसका अर्थ होता है 'सार्वभौमिक सन्देश') प्रकाशित हो रही है। जर्मन भाषा में भी 'वेदान्त' नामक त्रैमासिक पत्रिका सन् १९७८ से प्रकाशित हो रही है। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका आदि कई देशों से विभिन्न भाषाओं में वेदान्त सम्बन्धी पत्रिकाएँ रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित होकर प्रकाशित हो रही हैं।

स्वामीजी के देहावसान के बाद भारतर्ष में भी उनकी प्रेरणा से 'ब्रह्मवादिन्' और 'प्रबुद्ध भारत' के अतिरिक्त कई अँगरेजी पत्रिकाएँ प्रारम्भ हुई हैं, जिनमें रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा सन् १९१४ से प्रकाशित हो रही मासिकी 'वेदान्त केसरी' (ग्राहक संख्या ४,०००) तथा सन् १९५० से कलकत्ता से प्रकाशित हो रही 'बुलेटिन ऑफ दि रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर' (ग्राहक संख्या ३,०००) उल्लेखनीय हैं।

(७)

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अँगरेजी पत्रिकाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी स्वामीजी देशी भाषाओं में पत्रिकाएँ प्रकाशित करने के लिए उद्विग्न थे, क्योंकि वे मानते थे कि जनसाधारण में भावों का प्रचार करने के लिए देशी भाषाओं में ही पत्रिकाएँ आवश्यक हैं। 'ब्रह्मवादिन्' के प्रारम्भ होने के पहले ही उन्होंने अपने गुरुभाइयों को एक पत्रिका आधी हिन्दी और आधी बँगला भाषा में प्रकाशित करने को कहा था। इस पत्र को पहले ही उद्धृत किया गया है (दिनांक २५ सितम्बर १८९४)। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों की सहायता से कलकत्ता से बँगला भाषा में एक पत्रिका निकालने को उत्सुक थे। सन् १८९५ में उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी को एक बँगला पत्रिका के प्रकाशन के लिए पुनः तगादा किया। ११ अप्रैल १८९५ को उन्होंने अपने एक अन्य गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्दजी को लिखा—'एक पत्रिका निकालने के लिए अपनी शक्ति को काम में लाओ। लज्जा से काम नहीं चलेगा।"[२९] उसी वर्ष उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्दजी को पुनः लिखा—"मैंने सुना था कि हरमोहन एक पत्रिका प्रकाशित करने में लगा है। वह कार्य कहाँ तक अग्रसर हुआ? काली, शरत्, हरि, मास्टर, जी. सी. घोष आदि सब मिलकर यदि व्यवस्था कर सकें तो अच्छा हो।"[३०] श्री हरमोहन मित्र (अनेक पुस्तकों के सम्पादक), मास्टर महाशय (श्री महेन्द्रनाथ गुप्त उर्फ 'म', 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक), श्री जी. सी. घोष (बंगाल

२९. 'पत्रावली', प्रथम भाग, पृ. ३०३।
३०. वही, पृ. ३८९-९०।

के प्रख्यात कवि तथा नाटककार)—श्रीरामकृष्णदेव के ये सभी अन्तरंग गृही शिष्यगण एक पत्रिका निकालने में सक्षम थे। उसी प्रकार स्वामीजी के गुरुभाई काली महाराज (स्वामी अभेदानन्द), हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) तथा शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) भी इस कार्य के लिए समर्थ थे (ये तीनों वेदान्त-प्रचार के लिए विदेश भी गये)। जब इन सभी से स्वामीजी निराश हो गये, तब उन्होंने अपना ध्यान अँगरेजी पत्रिकाओं पर केन्द्रित किया।

इस बीच अप्रत्याशित रूप से एक युवक पर पत्रिका का भूत सवार हुआ। वे थे स्वामीजी के गुरुभाई सारदा-प्रसन्न (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द)। अपनी कम उम्र के कारण वे इस प्रकार के कार्य के लिए गणना में ही नहीं थे। अतः जब उन्होंने अपने गुरुभाइयों के समीप पत्रिका निकालने का अपना निश्चय व्यक्त किया, तब उन लोगों ने इसे हँसकर उड़ा दिया। कुछ लोगों ने शायद खिल्ली भी उड़ायी। फिर भी हिम्मत न हार उन्होंने स्वामीजी को इस बारे में पत्र लिखा। पत्र पाने के बाद स्वामीजी की प्रसन्नता का अनुमान हम सहज ही कर सकते हैं। स्वामीजी ने तुरन्त स्वामी ब्रह्मानन्दजी को लिखा (१८९५)—"सारदा एक बंगाली पत्रिका प्रकाशित करने की बात कर रहा है। अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इसमें मदद देना। यह कोई बुरा विचार नहीं है। किसी को उसकी योजनाओं में हतोत्साह नहीं करना चाहिए।...एक दूसरे की आलोचना ही सब दोषों की जड़ है। किसी भी संगठन को विनष्ट करने में इसका बहुत बड़ा हाथ है।"[३१]

३१. 'विवेकानन्द साहित्य', खंड ४, पृ. ३१५।

स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को भी स्वामीजी ने अत्यन्त प्रेरणादायी पत्र (जनवरी १८९६) लिखा, जो इस बात की साक्षी देता है कि इतिहास में स्वामीजी के समान प्रेरणादायी पत्र-लेखक कोई नहीं। उन्होंने लिखा था—"पत्रिका के बारे में तुम्हारी idea (कल्पना) अति उत्तम है, पूर्ण शक्ति के साथ जुट जाओ, कोई चिन्ता नहीं है। तुम्हारा पत्र मिलने पर मैं ५०० रुपये तत्काल भेज दूँगा—ईसाई तथा इस्लाम धर्म का प्रचार करनेवाले बहुत से लोग हैं, तुम अब अपने देशी धर्म के प्रचार में जुट जाओ।... अनेक लेखकों की आवश्यकता है। साथ ही ग्राहकों की भी समस्या है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि तुम विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते रहते हो, जहाँ कहीं भी बंगला भाषा का प्रचलन हो, वहाँ पर लोगों के माथे पत्रिका मढ़ देना।...पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए, आगे बढ़े चलो। शशी, शरत्, काली आदि सब कोई अध्य-यन कर लिखने में जुट जायँ। घर पर बैठे बैठे क्या हो सकता है? तुमने बहुत बहादुरी की है। शाबास! हिचकनेवाले पीछे रह जाएँगे और तुम कूदकर सबके आगे पहुँच जाओगे। वे अपने उद्धार में लगे हुए हैं—न वे अपना ही उद्धार कर सकेंगे और न दूसरों का। ऐसा शोरगुल मचाओ कि उसकी आवाज दुनिया के कोने-कोने में फैल जाए।... तूफान मचा दो, तूफान! किसी को चीन भेज दो, किसी को जापान। यह कार्य गृहस्थों द्वारा नहीं हो सकता।... संन्यासियों को हुंकार के साथ गरजना होगा। ह-र, ह-र श-म्भो!"[३२]

इसके बाद स्वामीजी कई पत्रों द्वारा पत्रिका के प्रका-

३२. 'पत्रावली', भा. १, पृ. ४१९-२०।

शन के लिए तगादा देते रहे, किन्तु पत्रिका का प्रकाशन पिछड़ता ही गया। मूल कारण था अर्थाभाव। तब स्वामीजी ने मिस मैकलाउड से आर्थिक सहायता के लिए अनुरोध करते हुए पत्र लिखा (२९ अप्रैल १८९८)—"कलकत्ते से मैं एक पत्रिका प्रकाशित करूँगा। यदि तुम पत्रिका चालू करने में मेरी सहायता करो, तो मैं तुम्हारा विशेष कृतज्ञ रहूँगा।"[३३] ऐसा लगता है कि मिस मैकलाउड इसके लिए सहर्ष राजी हुई थीं, क्योंकि २० मई १८९८ को स्वामीजी ने कुछ रुपये भेजकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी को लिखा—"पत्रिका के लिए अर्थ-संग्रह की चेष्टा हो रही है। १२०० रुपये पत्रिका के लिए मैंने जो भेजे हैं, उनको उसी कार्य के लिए रख देना।"[३४]

इसके बाद भी समस्या का समाधान नहीं हुआ। १७ जुलाई १८९८ को स्वामीजी ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी को पुनः लिखा—"तुमने जो लिखा है, उसमें मेरा वक्तव्य इतना ही है कि बंगभाषा में पत्रिका को paying (आयप्रद) बनाना कठिन है; किन्तु यदि सब मिलकर घर-घर जाकर ग्राहक बनावें तो सम्भव है। इस विषय में तुम्हें जो उचित प्रतीत हो करना। बेचारा सारदा एकदम निराश हो चुका है। जो व्यक्ति इतना कर्मठ और निःस्वार्थ हो, उसके लिए यदि एक हजार रुपये पर पानी भी फिर जाय तो क्या नुकसान है?"[३५]

अन्ततोगत्वा 'उद्‌बोधन' के नाम से जनवरी १८९९ में (माघ पहला, बंगाब्द १३०५) पत्रिका प्रकाशित हुई।

३३. वही, भाग २, पृ. १९०।
३४. वही, पृ. १९३।
३५. वही, पृ. १९६।

स्वामीजी द्वारा प्रदत्त एक हजार रुपये के अतिरिक्त एक हजार रुपये श्री हरमोहन मित्र से ऋण के रूप में लिये गये थे। यद्यपि स्वामीजी इसे दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित करना चाहते थे, पर अर्थाभाव के कारण वह पाक्षिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुई। प्रारम्भ होने के दस वर्ष बाद से आज तक यह मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो रही है। आज यह बँगला की न केवल सर्वश्रेष्ठ (धर्म तथा संस्कृति सम्बन्धी) पत्रिका है, वरन् बँगला की प्राचीन पत्रिकाओं में से है। प्रथम चार वर्षों तक इसके प्रकाशक और सम्पादक थे स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी। तब यह अपने निजी प्रेस (उद्बोधन प्रेस) में छपी थी। पर बाद में इस प्रेस को अर्थाभाव के कारण बेच देना पड़ा। प्रेस खरीदने के लिए धन स्वामीजी की अमेरिकन शिष्या मिस मैकलाउड ने दिया था।

इस पत्रिका का नाम स्वामीजी ने ही दिया था और इसकी उन्नति के लिए अनेकानेक आशीर्वाद दिये थे। इसकी प्रस्तावना भी स्वामीजी ने ही लिखी थी तथा समय-समय पर इसमें कई लेख भी लिखे थे। स्वामीजी इस पत्रिका से कितना प्रेम करते थे इसका कुछ अनुमान श्री शरत् चन्द्र चक्रवर्ती से हुए उनके वार्तालाप को पढ़कर होता है। इस वार्तालाप से यह भी पता चलता है कि स्वामीजी के इस पत्रिका की सफलता, उसकी भाषा तथा उसके उद्देश्य के बारे में क्या विचार थे। अतः इसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।[३६]

स्वामीजी—(पत्र के नाम को विकृत करके)—'उद्-बन्धन' देखा है?

३६. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ६, पृ. ११०-१३।

शिष्य—जी, हाँ। सुन्दर है।

स्वामीजी—इस पत्र के भाव-भाषा सभी कुछ नये ढाँचे में गढ़ने होंगे।

शिष्य—कैसे ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण का भाव तो सबको देना ही होगा, साथ ही बँगला भाषा में नया जोश लाना होगा। उदाहरणार्थ, बार-बार केवल क्रियापद का प्रयोग करने से भाषा की शक्ति घट जाती है; विशेषण देकर क्रियापदों का प्रयोग घटा देना होगा। तू ऐसी भाषा में निबन्ध लिखना शुरू कर दे। पहले मुझे दिखाकर फिर 'उद्बोधन' में प्रकाशित होने के लिए भेजते जाना।

शिष्य—महाराज, . . .यह पत्र हर पन्द्रह दिन के बाद प्रकाशित होगा, हमारी इच्छा है यह साप्ताहिक हो।

स्वामीजी—यह तो ठीक है, परन्तु उतना धन कहाँ ? श्रीरामकृष्ण की इच्छा से यदि रुपये की व्यवस्था हो जायगी तो कुछ समय के पश्चात् इसे दैनिक भी किया जा सकता है और प्रतिदिन इसकी लाखों प्रतियाँ छापकर कलकत्ते की गली-गली में बिना मूल्य बाँटी जा सकती है।

जिस दिन उपर्युक्त वार्तालाप हुआ, उसी दिन रात में स्वामीजी ने 'उद्बोधन' के विषय में शिष्य से अनेक चर्चाएँ कीं और कहा—" 'उद्बोधन' के द्वारा जनसाधारण के सामने भावात्मक आदर्श रखना होगा। 'नहीं', 'नहीं' की भावना मनुष्य को दुर्बल बना डालती है।. . .तुम्हारे इतिहास, पुराण आदि सभी शास्त्र मनुष्य को केवल डराने

का ही कार्य करते हैं। मनुष्य से केवल कह रहे हैं—'तू नरक में जायगा, तेरी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।' इसलिए भारत की नस-नस में इतनी अवसन्नता आ गयी है। अतः वेद-वेदान्त के उच्च भावों को सरल भाषा में लोगों को समझा देना होगा। सदाचार, सद्व्यवहार और शिक्षा का प्रचार कर ब्राह्मण और चण्डाल को एक ही भूमि पर खड़ा करना होगा। 'उद्बोधन' में इन्हीं विषयों पर लिखकर बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को उठा दे तो देखूं। तभी जानूंगा तेरा वेद-वेदान्त पढ़ना सफल हुआ है।"

'उद्बोधन' के लिए स्वामीजी ने जो प्रस्तावना लिखी थी, उसमें भी इन्हीं भावात्मक तथा बलप्रद विचारों के प्रसार पर जोर दिया था। भारतवर्ष में वे चाहते थे रजोगुण तथा सत्त्वगुण का मिश्रण, प्राच्य और पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों का मिलन तथा निर्भीक रूप से सत्य-मिथ्या का विचार। इन्हीं सब विषयों की मीमांसा को 'उद्बोधन' का उद्देश्य बताते हुए उस अमर रचना* में स्वामीजी ने अत्यन्त तेजस्वी भाषा में अपने विचारों को लिपिबद्ध किया था तथा इस कार्य हेतु "सहृदय, प्रेमी, बुधमण्डली का आह्वान करते हुए" उन्होंने स्पष्ट किया था कि 'उद्बोधन' "द्वेष-बुद्धि छोड़ व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक कुवाक्य-प्रयोग से विमुख होकर इन सम्प्रदायों की सेवा के ही लिए अपना शरीर अर्पण करता है।"[३७]

---

* स्वामीजी का यह लेख 'समन्वय का ध्येय' शीर्षक से इसी अंक के प्रारम्भ में प्रकाशित हुआ है।—स०

३७. 'समन्वय', वर्ष १, अंक १ (प्रस्तावना)।

उपर्युक्त प्रस्तावना स्वामीजी ने सम्भवतः अक्तूबर १८९७ में लिखी थी, किन्तु 'उद्‌बोधन' का प्रथम अंक प्रकाशित होते और भी एक वर्ष से अधिक समय बीत गया। पत्रिका-प्रकाशन में ढील होते देख स्वामीजी ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी को लिखा था (११ अक्तूबर १८९७)— "सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) बेचारे को मैंने बहुत सी गालियाँ दी हैं। क्या करूँ...मैं गालियाँ देता हूँ, किन्तु मुझे भी तो बहुत कुछ कहना है।...मैंने खड़े होकर हाँफते हुए उसके लिए लेख लिखा है।"[३८] यह लेख ही सम्भवतः 'उद्‌बोधन' की प्रस्तावना के रूप में छपा था। जनवरी १८९९ में पत्रिका प्रारम्भ होने के बाद भी स्वामीजी का पत्रिका के लिए यह कठोर परिश्रम चलता रहा, उसके लिए आवश्यक सुझाव आदि भी वे देते रहे, और साथ में गालियों की बौछार भी! स्वामीजी के कठोर शासन से उनके गुरुभाई भी बचे नहीं थे। १० अगस्त १८९९ को उन्होंने लन्दन से स्वामी ब्रह्मानन्दजी को लिखा था—"सारदा ने लिखा है कि पत्रिका नहीं चल रही है। मेरे भ्रमण-वृत्तान्त को पर्याप्त advertise कर (विज्ञापन देकर) छापे तो सही—देखते-देखते ग्राहक बढ़ जाएँगे। पत्रिका के तीन-चौथाई हिस्से में केवल सिद्धान्त की बातें छापने से क्या वह लोकप्रिय हो सकती है? अस्तु, पत्रिका पर सतर्क दृष्टि रखना। समझ लेना कि मैं चल बसा हूँ।...पत्रिका के लिए धन भी मैं एकत्रित करूँगा, लेख भी मेरे ही होंगे, तो फिर तुम क्या करोगे?... न तो कोई एक पैसा ला सकता है और न प्रचार ही कर सकता है, किसी कार्य को संचालन करने की बुद्धि किसी

३८. 'पत्रावली', भा. २, पृ. १६४।

में भी नहीं है। एक लाइन लिखने की . . . शक्ति किसी को नहीं है—वैसे ही सब महापुरुष हैं!" ३९

स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि सब समय 'उद्‌बोधन' की ओर थी। प्रूफ देखने में या छपाई में थोड़ी सी भी त्रुटि वे सहन नहीं करते थे। समय पर पत्रिका न निकलने पर उनके तिरस्कार की सीमा न रहती थी। अधिकतर उनकी लांछना के शिकार होते थे स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी, जिन्होंने इस पत्रिका के लिए कठोर परिश्रम किया था। श्री कुमुदबन्धु सेन ने अपनी 'स्मृति-कथा' में लिखा है—"आज स्मरण हो आती है 'उद्‌बोधन' के सर्वप्रथम सम्पादक तथा प्रतिष्ठाता पूज्यपाद स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी की बात। . . . देखा है ग्रीष्म-वर्षा में कितने दिनों तक कभी भूखे, कभी अध-भूखे रहकर उन्हें प्रेस तथा पत्रिका का कार्य देखना पड़ रहा है। कम्पोजिटर नहीं आया है, उन्हें स्वयं दूसरे व्यक्ति की खोज करनी पड़ रही है; दूसरे दिन प्रेसमेन अस्वस्थ है, तो कहाँ से नया प्रेसमेन मिलेगा इसकी खोज में विभिन्न स्थानों में घूम रहे हैं; कभी प्रेस की साधन-सामग्री जुटाने के लिए भाग-दौड़ कर रहे हैं, और कभी प्रेस के लोगों को कार्य में सहायता दे रहे हैं। इसके अलावा उन्हें स्वयं तो लेख लिखने ही पड़ते, साथ ही लेखों के संग्रह भी करने पड़ते थे। ठीक समय पर पत्रिका प्रकाशित नहीं होने पर वे स्वामीजी के पास तिरस्कृत होते थे। इसके सिवा प्रेस में कोई व्यक्ति अस्वस्थ होने पर उसकी चिकित्सा तथा पथ्य की व्यवस्था भी उन्हें ही करनी पड़ती थी। विभिन्न प्रकार से इतना कठोर परिश्रम करने पर भी उनके मुख पर सदा मुसकान बनी

३९. वही, पृ. २०७-०८।

रहती थी—थकावट का कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ता था। अधिकतर कम्पोजिटर तथा प्रेसमेन गलियों में निवास करते थे। वे निःसंकोच उन गलियों में जाकर उन लोगों की खोज करते थे।...तिस पर भी पत्रिका में किसी प्रकार की भूल होने से या प्रूफ देखने में कोई त्रुटि रहने से अथवा गलत शब्द या भाव का प्रयोग करने से स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को विशेष रूप से तिरस्कार सहन करना पड़ता था। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्दजी की इस ओर तीक्ष्ण दृष्टि थी। एक दिन उस प्रकार की घटना मैंने प्रत्यक्ष देखी थी। अध्यापक मैक्समूलर तथा श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री स्वामीजी का लेख उसी समय 'उद्बोधन' में प्रकाशित हुआ था। श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि के उपलक्ष में स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी के बेलुड़ मठ जाकर स्वामी विवेकानन्द के सम्मुख उपस्थित होने पर, उन्हें देखते ही 'उद्बोधन' में छपे उनके लेख में रह गयी भूलों का उल्लेख कर, स्वामीजी ने उनकी बेहद भर्त्सना की। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने कहा, 'किस प्रकार के मूर्ख लोगों को लेकर कार्य करना पड़ता है,, यह तो तुम समझना नहीं चाहते।' स्वामीजी ने कहा, 'रहने दे ये सब बातें। तुम लोगों ने जब हाथ में काम लिया है तो उसमें त्रुटि क्यों रहेगी? उन लोगों को सिखाने का प्रयत्न किया है? इस देश के लोग ही दोष छिपाने के लिए बहाना ढूंढ़ते रहते हैं। उस देश के कम्पोजिटर भी तो विद्वान् नहीं हैं। जो लोग मैनेजर हैं, जिन्होंने कार्य का उत्तरदायित्व लिया है, वे अत्यन्त सावधानीपूर्वक उसे पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। जब तक वह त्रुटिरहित न हो, तब तक उसे छोड़ते

नहीं। इस देश में छपने से ही हो गया, गलतियाँ रहती हैं तो रहें। एक शब्द भी इधर-उधर होने से अर्थ या भाव पलट जाता है। कितनी सावधानी से प्रूफ देखना पड़ता है। तुम लोग यदि पत्रिका में भूल छापोगे तो लाभ क्या हुआ, बोल तो ?"[४०]

बाहर से भर्त्सना करने पर भी स्वामीजी के अन्तराल में अपने गुरुभाई के प्रति अगाध विश्वास और असीम प्रेम था। स्वामीजी का स्वभाव ऐसा ही निराला था—सामने गालियों की बौछार और पीठ-पीछे प्रशंसा का वर्षण ! स्वामीजी ने एक बार अपने शिष्य श्री शरत् चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था—"यह देख मेरे आदेश का पालन करने के लिए त्रिगुणातीत साधन-भजन, ध्यान-धारणा तक छोड़ कर कर्तव्य क्षेत्र में उतर पड़ा है। क्या यह कम त्याग की बात है ? मेरे प्रति कितने प्रेम से कर्म की यह प्रेरणा उसमें आयी है, देख तो, पूरा काम होने पर ही वह उसे छोड़ेगा ! क्या तुम लोगों में है ऐसी दृढ़ता ? . . .ये लोग काम करते मर जाएँगे, फिर भी हटनेवाले नहीं।"[४१] सचमुच ही स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी स्वामीजी का कार्य करते-करते ही अमेरिका में एक पागल शिष्य द्वारा फेंके बम से आहत होकर शहीद हुए थे। अमेरिका में भी उन्होंने एक पत्रिका का प्रकाशन किया था—'वायस ऑफ इण्डिया'।

शिवजी के समान एक क्षण में रुद्र रूप तथा दूसरे ही

---

४०. उद्‌बोधन स्वर्ण जयन्ती अंक, १३५४ बंगाब्द, 'उद्‌बोधन जय यात्रा'।

४१. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ६, पृ. ११०-११।

क्षण आशुतोष रूप धारण करनेवाले स्वामीजी का यह व्यक्तित्व सुन्दर रूप से निखरा है श्री शचीन्द्रनाथ बसु की स्मृतिकथा में। 'उद्बोधन' के लिए स्वामीजी की प्रेरणा, दृढ़ इच्छाशक्ति तथा कठोर अनुशासन और दूसरी ओर स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी का कठोर परिश्रम, अविराम संग्राम, गुरुभाई के प्रति प्रेम तथा आज्ञाकारिता, सबका सजीव चित्रण भी हमें इसमें मिलता है:—

पिछले सोमवार (६ नवम्बर १८९८)... स्वामीजी के साथ मैं (बेलुड़ मठ से) बागबाजार आया।... (बलराम बाबू के घर के) हॉल में (स्वामीजी) बैठे, हम लोग भी बैठे—मैं तथा राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी)। कुछ देर बाद शरत् चन्द्र चक्रवर्ती आये। इधर-उधर की बातचीत हो रही थी कि इतने में ज्वर से आक्रान्त सारदा महाराज हिलते-डुलते वहाँ उपस्थित हुए।

स्वामीजी तथा राखाल महाराज ने एक साथ त्रिगुणातीतानन्दजी की अभ्यर्थना की—क्या बाबाजी, आओ, आज का समाचार क्या है? प्रेस का कार्य कहाँ तक पहुँचा? बोलो बोलो, बैठो, बैठो!

त्रिगुणातीत—(नाक से बोलते हुए)—अरें भाँई, औंर तों नहीं होंताँ—यें सँब काँम क्याँ हम लोगों काँ है भाँई?...सारे दिन तीर्थ के कौओं के समान बैठे रहना पड़ता है; न तो कोई काम है और न अन्य कुछ। एक job work (छपाई का काम) मिला है, किन्तु उससे क्या होगा? बहुत हुआ तो आठ आने मिलेंगे। मैं प्रेस बेचने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

स्वामीजी—बोलता क्या है रे? इसी के बीच तेरा

सब शौक मिट गया ? और कुछ दिन देख, फिर छोड़ना। इस तरफ प्रेस को ले आ न, कुमारटोली के पास। हम सभी देख पाते।

त्रिगुणातीत—ना भाई, वहीं रहने दो। एक-दो दिन देखने दो। १५-२० रुपये का नुकसान करके बेच दूंगा।

स्वामीजी—ओ रे राखाल, बोलता क्या है ? लगता है उसकी बहुत ट्रायल (परीक्षा) हुई है। इतने में ही तेरा सब चूर हो गया ? Patience (धैर्य) नहीं रहा।

यह बात बोलते-बोलते स्वामीजी के नेत्र प्रज्वलित हो उठे। सिंह की भाँति खड़े हो गये और गर्जन कर बोले—"बोलता क्या है रे ? दे, प्रेस बेच दे। मुझे धन की बहुत आवश्यकता है। इसी मुहूर्त बेच डाल—१००-१५० रुपयों का नुकसान करके भी बेच दे। . . . काम के नाम से ही इन सबको वैराग्य आ जाता है। अरें भाँई, औंर तों नहीं होंताँ—यें सँब काँम क्याँ हमारें हैं ? केवल खा-पीकर तोंद बढ़ाकर सोना चाहते हैं ! जिन लोगों का किसी भी कार्य में patience (धैर्य) नहीं, वे क्या मनुष्य हैं ? . . .अभी तो तीन दिन भी नहीं हुए तुझे प्रेस चालू किये। जा, जा तेरा वहत experiment (प्रयोग) हो चुका—तेरी तो बड़ी साध थी। किसने तुझे प्रेस चालू करने को कहा था ? तूने ही तो मुझे लिख-लिखकर धन का संग्रह किया। ले आ न तेरा प्रेस यहाँ पर, वहाँ रखने का तेरा मतलब क्या है ? और यह तुझे ज्वर होता रहता है, अपना स्वास्थ्य देखता नहीं है ?"

त्रिगुणातीत— ८ रुपया किराया देना होगा, एक माह का एग्रीमेण्ट हो गया है।

स्वामीजी—छिः छिः। बोलता क्या है ? ये सब

लोग कोई काम कर सकते हैं ? ८ रुपयों के लिए पड़ा हुआ है ? तुम लोगों की यह क्षुद्रता किसी प्रकार नहीं जाएगी। तू हरमोहन के ही समान है। तुम लोगों द्वारा कभी कोई business (व्यवसाय) नहीं होगा। वह भी एक पैसे के आलू खरीदने के लिए पचास दुकानों में घूमेगा और ठगाकर मरेगा। ... दे प्रेस हमारे मठ में पहुँचा दे—हम लोगों को भी तो एक प्रेस चाहिए। देख, कितने व्याख्यान दिये हैं, कितने लिखे हैं, आधे भी अभी नहीं छपे। तू मुझे work (काम) दिखा रहा है ? राखाल, याद कर, वह कितने वर्षों पुरानी बात है—१२-१३ वर्ष पूर्व की बात—वहीं गंगा के किनारे बैठकर हम लोग उनकी (श्रीरामकृष्ण की) चिताभस्म लेकर रो रहे थे। मैंने कहा था—उनकी अस्थि गंगा के किनारे रखना उचित है, गंगा के किनारे ही मन्दिर होना उचित है, क्योंकि वे गंगा के किनारे रहना पसन्द करते थे। ... मेरी बात नहीं सुनी। उनकी चिताभस्म काँकुड़गाछी उद्यानवाटी में रखी गयी। मेरा हृदय बहुत व्यथित हुआ था। राखाल, याद कर, मैंने क्या दृढ़ प्रतिज्ञा की थी ? आज बारह वर्षों तक bull dog (बुलडॉग) की तरह उस idea (विचार) को लेकर सारे संसार का चक्कर लगाया है, एक दिन भी सोया नहीं। आज देख, उसे सफल किया। उस idea (विचार) ने मुझे एक दिन भी नहीं छोड़ा।...इस प्रकार के लोगों से क्या उन्नति हो सकती है ?

त्रिगुणातीत—भाई, तुम्हारा brain (मस्तिष्क) कैसा है ! अपना brain मुझे दोगे ?

इस बात से वातावरण हास्य से गूंज उठा, क्योंकि

बोलने की तारीफ थी। बाद में त्रिगुणातीतजी ने बताया कि ज्वर होने के बाद सुबह कुछ साबूदाना खाया है और इस जून एक सेर रबड़ी, आधा सेर कचौड़ी और उसके साथ आवश्यक तरकारी खायी है। यह बात सुनकर स्वामीजी ठहाका मारकर हँस पड़े। बोले, "साले ! तेरा stomach (पेट) मुझे दे तो भला, संसार का चेहरा एकदम पलट दूँ। लाहौर में सूरजमल बोला था, 'स्वामीजी, तुममें नानक का brain (मस्तिष्क) तथा गुरु गोविन्दसिंह का heart (हृदय) आ चुका है—अब केवल जगमोहन (खेतड़ी के दीवान) के समान पेट की आवश्यकता है !"[४२]

ऐसा ही अनोखा सम्बन्ध था स्वामीजी का अपने गुरुभाइयों के साथ; और ऐसा ही कठोर संघर्ष करना पड़ा था उन लोगों को 'उद्‌बोधन' के प्रवर्तन के लिए। इसी प्राणपण प्रयत्न, तपस्या तथा संकल्प के फलस्वरूप इस पत्रिका ने आज ८६ वर्षों बाद भी अपना अस्तित्व बनाये रखा है। यह बँगला जगत् की वर्तमान में नियमित रूप से प्रकाशित प्राचीनतम पत्रिका है; यही नहीं, धर्म तथा संस्कृति सम्बन्धी पत्रिकाओं में यह सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि आज इसके १०,५०० नियमित ग्राहक हैं, जिनमें ८०० आजीवन हैं।

(८)

हिन्दी तथा बँगला के अलावा अन्य देशी भाषाओं में भी पत्रिका प्रकाशित करने की स्वामीजी की इच्छा थी।

४२. 'उद्‌बोधन', चैत्र, १३५९ बंगाब्द।

डा० नंजुन्दा राव को 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के लिए प्रोत्साहन देने के बाद उन्होंने अपने उस पत्र में (२६ अगस्त १८९६) लिखा था—"जब तुम इस पत्र के संचालन में सिद्धि-लाभ कर लोगे, तब इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं—तमिल, तेलुगू और कन्नड़ आदि में—भी पत्रिकाएँ शुरू करना।"[४३]

स्वामीजी की इच्छा को मूर्तरूप देने के लिए एक तमिल पत्रिका प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी थी। पत्रिका का नाम रखा गया था—'प्रबोध चन्द्रिका'। 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक श्री राजम अय्यर ही उसके भी सम्पादक होनेवाले थे, किन्तु उनके आकस्मिक निधन से पत्रिका का प्रकाशन न हो पाया। खैर, स्वामीजी की इच्छा पूर्ण हुई अवश्य, किन्तु उनके देहवासान के बाद। सन् १९२१ में श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा श्री रमकृष्ण-विजयम्' के नाम से एक तमिल मासिक पत्रिका आरम्भ की गयी। आज तमिलनाडु की अत्यन्त लोकप्रिय पत्रि-काओं में इसकी गणना है। इसकी वर्तमान ग्राहक -संख्या ३५,००० के करीब है, जिसमें लगभग २,५०० आजीवन ग्राहक हैं। यह किसी भी धार्मिक पत्रिका के लिए गर्व का विषय हो सकता है। श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास से ही एक तेलुगू मासिक पत्रिका—'श्रीरामकृष्ण प्रभा'—सन् १९४४ से प्रकाशित हो रही है। वर्तमान में इसके लगभग ७,००० वार्षिक ग्राहक हैं, जिनमें लगभग ५०० आजीवन सदस्य भी शामिल हैं।

रामकृष्ण संघ के त्रिचूर केन्द्र से इसी प्रकार 'प्रबुद्ध केरलम्' नामक एक मलयालम मासिक पत्रिका सन् १९१४

४३. 'पत्रावली', भाग २, पृ. २६।

से प्रकाशित हो रही है। फिलहाल इसके लगभग १०,००० वार्षिक सदस्य हैं, जिनमें लगभग २,००० आजीवन सदस्य हैं। मराठी भाषा में रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा सन् १९५७ से 'जीवन विकास' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है (ग्राहक संख्या ८,०००)।

(९)

इस प्रकार स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में 'ब्रह्म-वादिन्', 'प्रबुद्ध भारत', 'उद्‍बोधन' तथा कम से कम और भी तीन अँगरेजी पत्रिकाओं का प्रत्यक्ष रूप से प्रवर्तन किया था एवं अन्य कई पत्रिकाओं के प्रवर्तन में परोक्ष रूप स सहायता प्रदान की थी (जिनमें 'वसुमती', 'डॉन' आदि पत्रिकाएँ शामिल हैं)। उनके देहत्याग के बाद भी कई पत्रिकाओं का प्रवर्तन उन्हीं की प्रेरणा से उनकी भावधारा को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए हुआ है और हो रहा है।

स्वामीजी ने कहा था—"हो सकता है मैं इस शरीर को पुराने वस्त्र की भाँति त्याग दूं, किन्तु अपना कार्य बन्द नहीं करूँगा। मैं सर्वत्र मनुष्यों को प्रेरणा देता रहूँगा जब तक कि वे जान न लें कि वे ब्रह्मस्वरूप हैं।" आज भी—अपने देहत्याग के ८५ वर्ष बाद भी, स्वामीजी अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा सर्वत्र अपने उदार भावों के प्रचार में लगे हुए हैं; इस प्रचार के महत्त्वपूर्ण अंग हैं पत्र-पत्रिकाएँ। इसीलिए कभी-कभी वे मानो किसी के सिर पर सवार होकर उसे प्रेरणा देते हैं, विवश करते हैं पत्रिका के प्रवर्तन के लिए। इस प्रकार से कितनी ही पत्रिकाओं का प्रवर्तन स्वामीजी करवा रहे हैं, और कौन जानता है, कितनी का भविष्य में करवाएँगे? धन्य हैं वे, जिनको स्वामीजी ने इस महत् कार्य के लिए यन्त्रस्वरूप चुना है या चुनेंगे।

परिशिष्ट

रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित पत्रिकाएँ

(क) रामकृष्ण संघ के केन्द्रों द्वारा प्रकाशित हो रही पत्रिकाएँ :

क.सं.	पत्रिका का नाम	भाषा	कालक्रम	स्थापित	प्रकाशक
१.	'विवेक-ज्योति'	हिन्दी	त्रैमासिक	१९६३	रायपुर
२.	'प्रबुद्ध भारत'	अँगरेजी	मासिक	१८९६	मायावती
३.	'वेदान्त केसरी'	,,	,,	१९१४	मद्रास
४.	'वेदान्त फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट'	,,	द्विमासिक	१९५२	लन्दन
५.	'बुलेटिन ऑफ रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर'	,,	मासिक	१९४८	कलकत्ता
६.	'वेदान्त'	फ्रेंच	त्रैमासिक	१९६५	ग्रेट्ज़ (फ्रांस)
७.	'उद्बोधन'	बँगला	मासिक	१८९९	कलकत्ता
८.	'समाज शिक्षा'	,,	मासिक	१९५५	नरेन्द्रपुर (पं.बंगाल)
९.	'प्रबुद्ध केरलम्'	मलयालम	मासिक	१९१४	त्रिचूर
१०.	'श्रीरामकृष्णविजयम्'	तमिल	मासिक	१९२१	मद्रास

११.	'श्रीरामकृष्णप्रभा'	तेलुगू	मासिक	१९४४	मद्रास
१२.	'जीवन-विकास'	मराठी	मासिक	१९५७	नागपुर

(ख) रामकृष्ण संघ से प्रकाशित पत्रिकाएँ जो अब बन्द हो चुकी हैं :

क्र.सं.	पत्रिका का नाम	भाषा	कालक्रम	प्रकाशनावधि	स्थान
१.	'समन्वय'	हिन्दी	मासिक	१९२१-२८	मायावती
२.	'मार्निंग स्टार'	अँगरेजी	साप्ताहिक	१९२८-२९	पटना
	,,	,,	मासिक	१९३०-३२	,,
३.	'मेसेज ऑफ दि ईस्ट'	,,	त्रैमासिक	१९१२-५५	मेसाचुसेट्स
४.	'वॉयस ऑफ फ्रीडम'	,,	मासिक	१९०९-१६	कैलिफोर्निया
५.	'दि वॉयस ऑफ इण्डिया'	,,	मासिक	१९३८-४६	सैनफ्रान्सिस्को
६.	'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट'	,,	द्विमासिक	१९३८-७०	हालीवुड
७.	'वेदान्त पैसिफिक'	,,	?	१९०२-?	कैलिफोर्निया

(ग) रामकृष्ण संघ के बाहर से प्रकाशित पत्रिकाएँ :

क्र.सं.	पत्रिका का नाम	भाषा	कालक्रम	स्थापित	स्थान
१.	'विवेक शिखा'	हिन्दी	मासिक	१९८२	डा. केदारनाथ लाभ, छपरा (बिहार)
२.	'आश्रम-वाणी'	,,	मासिक	१९८२	श्री रामकृष्ण आश्रम; इन्दौर
३. (अ)	'ब्रह्मवादिन्'	अँगरेजी	मासिक	१८९६-१९१४	आलासिंगा पेरुमल, मद्रास
(ब)	'ब्रह्मवादिन्'	,,	त्रैमासिक	१९६६	विवेकानन्द केन्द्र, मद्रास
४.	'युवा भारती'	,,	मासिक	१९६३	,,
५.	'संवित्'	,,	अर्धवार्षिक	१९८०	श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता
६.	'विवेक जीवन'	बँगला	मासिक	१९६९	विवेकानन्द युवा महामण्डल, कलकत्ता
७.	'विश्ववाणी'	,,	मासिक	१९२६	वेदान्त मठ, कलकत्ता
८.	'विवेक दीप'	,,	त्रैमासिक	?	विवेकानन्द सोसायटी, कलकत्ता
९.	'श्री माँ सारदा'	,,	मासिक	१९५६	जोगेश्वरी आश्रम, लिलुआ, कलकत्ता

१०. 'तव तपोवने'	,,	मासिक	१९४६	रामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम, जलपाइगुड़ी
११. 'निबोधत'	,,	मासिक	१९८७	श्री सारदा मठ, कलकत्ता
१२. 'धर्मचक्र'	तमिल	मासिक	?	श्रीरामकृष्ण तपोवनम्, तिरुपराईतराई (तमिलनाडु)
१३. 'तुलसी सुगन्धम्'	मलयालम	मासिक	?	ओट्टापालम (केरल)
१४. 'वेदान्त'	जर्मन	त्रैमासिक	१९७८	वेदान्त जेन्ट्रम, विस्वन्डन, (प. जर्मनी)

O

विदाई

(हम पूर्व लेख में पढ़ चुके हैं कि कैसे स्वामी विवेकानन्द हिन्दी में एक पत्रिका निकालने के अत्यन्त आग्रही थे, पर वे अपने जीवनकाल में उसका प्रकाशन नहीं देख पाये। बाद में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सक्रिय सहयोग से रामकृष्ण संघ ने 'समन्वय' के नाम से एक हिन्दी मासिक निकाला, पर उसे ८ वर्ष पश्चात् बन्द कर देना पड़ा। उसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए 'समन्वय' के अन्तिम अंक (वर्ष ८ अंक १२, सौर पौष, संवत् १९८६ सन् १९२८ ई.) में जो सम्पादकीय 'विदाई' शीर्षक से निकला था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।—स०)

मनुष्य चाहता है कुछ, होता है कुछ और। ईश्वर की इच्छा ही प्रबल है। वे ही जब चाहते हैं इस संसार की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। क्यों करते हैं, यह वही जानते हैं। इसी सनातन नियम के अनुसार 'समन्वय' की भी उत्पत्ति हुई, और देखते ही देखते उसे आठ वर्ष बीत भी गये। इस थोड़े से समय में उसने जनता की कैसी और कितनी सेवा की, इसके विचार का भार हम पर नहीं, 'समन्वय' के पाठकों पर है। हमें तो सिर्फ अपनी ही त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं। अस्तु, अब हमें यह कहते हुए बड़ा खेद होता है कि इस अंक के साथ 'समन्वय' के जीवन का अन्त हो जाता है। शुरू से ही हमें ग्राहकों की कमी का सामना करना पड़ा और इसी कारण हमें भारी रकम का घाटा सहना पड़ा है। और कई असुविधाओं को भी झेलना पड़ा। अन्त में हमने 'समन्वय' का प्रकाशन बन्द कर देना ही निश्चय कर लिया। जब हमने पहले पहल इसे निकाला उस दिन से आज का कितना अन्तर है! तब आशा की उमंग थी, अब कठोर वास्तविकता की अभिज्ञता है।

पर प्रयत्न करके असफल होना और प्रयास न करना, इन दोनों में गहरा पार्थक्य है। इसीलिए 'समन्वय' को बन्द करते हुए भी, हमें अपनी छोटी सी शक्तिभर प्रयत्न करने का सन्तोष है। हमारा कर्म में अधिकार है, फल में नहीं। जान पड़ता है कि हिन्दी संसार अभी इस ढंग के धार्मिक पत्र के लिए तैयार नहीं हुआ। पर वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा बनेगी, और उस समय ऐसे पत्र की माँग अवश्य होगी। क्योंकि उस नवीन जागृति में धर्म-विचारों पर कहीं अधिक ध्यान दिया जायगा और हमारा पूर्ण विश्वास है कि उस समय 'समन्वय' नवीन रूप में फिर से भारतीय जनता के सामने उपस्थित होगा। इस दृष्टि से 'समन्वय' का अदर्शन होना मृत्यु नहीं, वरन् पुनर्जीवन के लिए तैयारी है।

गत आठ वर्षों में हमें अनेक महानुभावों से मिलने का सौभाग्य हुआ था। उन्होंने तरह-तरह की मदद देकर हमारा काम बहुत कुछ हलका कर दिया। उनकी इस अनमोल सेवा के लिए हम सदा उनका आभार मानेंगे। इसका प्रतिदान देने योग्य कोई चीज हमारे पास नहीं है। इसलिए हम केवल भगवान् श्रीरामकृष्णदेव और श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी के कमल-चरणों में प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें सदा सुख और शान्ति में रक्खें। 'समन्वय' के ग्राहकों और पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे हमारी त्रुटियाँ क्षमा करें, और यदि 'समन्वय' से उन्हें कुछ भी लाभ पहुँचा हो, किसी भी सत्य का पता उन्हें लगा हो, तो वे उसे कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करें।

निवेदक

सम्पादक, समन्वय

श्रीरामकृष्ण और रामकृष्ण संघ

तथा आधुनिक भारत को उनकी देन

राजीव गांधी

(रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली द्वारा श्रीरामकृष्णदेव की सार्धं शताब्दी तथा रामकृष्ण संघ की शताब्दी के निमित्त आयोजित समारोह का १० फरवरी १९८७ को सिरी फोर्ट सभागार में उद्घाटन करते हुए भारत के प्रधानमंत्री, श्री राजीव गाँधी ने अँगरेजी में जो भाषण दिया था, उसी का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—स०)

आज हम दो जयन्तियाँ मनाने जा रहे हैं—श्रीरामकृष्ण की १५०वीं जयन्ती और रामकृष्ण संघ की १००वीं जयन्ती। ये दो जयन्तियाँ काफी हद तक भारत के पुनर्जन्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। श्रीरामकृष्ण का जन्म ऐसे समय हुआ था, जब भारत अँगरेजों का गुलाम था। उन्होंने अपने पचास वर्ष के जीवन में भारत के पुनर्जागरण की चिराग जला दी। रामकृष्ण संघ की स्थापना कलकत्ते के वराहनगर में १८८६ में हुई, और यही श्रीरामकृष्ण की महासमाधि का वर्ष था। वह एक महान् राष्ट्रीय उद्यम था, जिसमें प्रेरणा और आदर्शवाद करुणा और दरिद्रनारायण की सेवा से जुड़े थे। रामकृष्ण संघ ने कर्तव्य की संहिता तैयार करने के लिए धार्मिक दर्शन के प्रतिमानों को अपनाया और उस संहिता को समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं के साथ जोड़ दिया। उसने ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म का वह दर्शन प्रतिपादित किया जिसे शिक्षा और स्वास्थ्य की सामाजिक समस्याओं, नारी-उन्नयन, प्राकृतिक या मनुष्य-निर्मित

विपदाओं में राहत सेवा-कार्य आदि के साथ जोड़ा जा सकता था। और यह साधित किया गया संन्यासियों के भ्रातृसंघ रामकृष्ण मठ को उस रामकृष्ण मिशन से सम्बद्ध कर, जो कि समाज-सेवा का अंग है और जिसमें गृहस्थ भक्त भी अपना योगदान दे सकते हैं। स्वामी बुधानन्द ने कहा है कि मठ ने संघ को आध्यात्मिक स्थिरता दी और मिशन ने पारोपकारिक मानवतावादी कर्मठता। रामकृष्ण विद्यालयों और महाविद्यालयों की गिनती श्रेष्ठतम शिक्षा-संस्थानों में होती है और वे देश के सुदूर-तम कोने तक फैले हुए हैं। मैंने स्वयं अरुणाचल प्रदेश के अलाँग केन्द्र के विद्यालय को देखा है।

पण्डितजी (नेहरूजी) ने अपने आत्मचरित्र में लिखा है कि विवेकानन्द और दूसरों ने हमें फिर से कुछ हद तक स्वाभिमान दिया तथा अपने अतीत के लिए हमारे सुप्त गर्व को जगा दिया। रामकृष्ण संघ ने हममें अपने अतीत के प्रति गर्व-भाव को प्रदीप्त किया तथा नारी-उत्पीड़न, छुआछूत, जाति और धर्म पर आधारित भेदभाव आदि जो बुराइयाँ हमें अपने अतीत से विरासत में मिली थीं उनके प्रति हमें जागरूक बनाया तथा उनसे लोहा लिया। खेद की बात यह है कि अधिकांश समुदायों में उच्चतर आध्यात्मिक सत्यों के प्रति विशेष महत्त्व-भावना नहीं थी। इस विकृति ने धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने आध्यात्मिक सारतत्त्व को सामाजिक पक्ष से अलग किया। उन्होंने सब धर्मों की साधनाएँ कीं और उनके सत्य की अनुभूति की तथा अखिल मानवजाति को सार्वजनीन सत्य अपनी वसीयत के रूप में प्रदान किया। उन्होंने कहा, "मैंने सब

धर्मों को साधा है—हिन्दू, इसलाम, ईसाई, तथा हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की भी साधना की है। मैंने पाया है कि सभी उसी एक ईश्वर की ओर जा रहे हैं—भले ही रास्ते अलग अलग हैं।" इस प्रकार की गहरी अनुभूतियों ने भारत के स्वातंत्र्य संग्राम को कर्तव्य-भावना और समान उद्देश्य के भाव से भरा। आज हमें आधुनिक भारत गढ़ने के लिए—और सम्भवतः इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण, संसार में एक नया क्रम लाने के लिए—ऐसी ही अनुभूतियों की आवश्यकता है। अब हमें रामकृष्ण के उपदेशों को एक सत्य के रूप में—सारी मानवजाति के लिए एक सत्य के रूप में आगे बढ़ाना चाहिए। मानवजाति में एकता साधित करने के लिए, पृथ्वी पर शान्ति और प्रगति कायम करने के लिए यही एकमेव रास्ता है।

भारतीय सभ्यता की सनातन परम्परा में श्रीरामकृष्ण के उपदेश हमारे नीति-आचार में बहुत गहरे भिदे हैं, फिर भी अपनी इस ताकत के बावजूद आज हम मतान्ध रूढ़िवादिता और सतही संस्कृतियों को ऊपर सिर उठाते देख रहे हैं। वे हृदय की गहराई में या धर्म के सारतत्त्व में नहीं जातीं, वे तो अनुष्ठानादि के सतही स्तर पर रहना ही पसन्द करती हैं। हमें आज इसी का सामना करना होगा और उसका विनाश साधित करना होगा। आज कई लोग धर्म को सतही मतवादों और अनुष्ठानों की खिचड़ी मानते हैं, पर धर्म वैसा नहीं है, वह तो अधिक गहराई का तत्त्व है। रूढ़िवादियों की चुनौती का सामना करने का अर्थ धर्म का बहिष्कार नहीं है, पर वह है धर्म-निरपेक्षता की व्याख्या के रूप में हमारा जो सर्व-धर्म-समभाव का आदर्श रहा है, उच्चतर सत्य की जो स्वीकृति रही है,

जो श्रीरामकृष्ण ने हमें दिखाया है उसका पुरजोर समर्थन और प्रचार। अब समय आ गया है कि हम अपने समूचे समाज को अपनी सभ्यता के उन अधिक गहरे मूल्यों के प्रति जागरूक करें, जो हमारी धरती पर फलने-फूलने वाले सकल धर्मों के परस्पर सम्मिलन और आत्मसात् करने के फलस्वरूप उपजे हैं और इस प्रकार साम्प्रदायिक और संकीर्ण दृष्टि रखनेवाले कुछ धार्मिक दृष्टिकोणों का हम प्रतिकार करें। रूढ़िवादिता का प्रतिकार दूसरी संकीर्ण रूढ़िवादिता से नहीं किया जा सकता, उसका प्रत्याख्यान तो उच्चतर सत्य की खोज के द्वारा, महत्तर और अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखकर ही किया जा सकता है।

जो आध्यात्मिक सूत्र हमें अपनी परम्पराओं और अपनी विरासत से बाँधे रखते हैं, ध्यान रहे वे प्रगति, समृद्धि और आधुनिकीकरण के नाम पर कहीं तोड़ न दिये जायँ। हमारा विकास, अगली शताब्दी में हमारे कदमों का आगे बढ़ना तभी सार्थक होगा, जब हम अपने मूल्यों को अक्षत रखकर, हमारी विरासत में जो कुछ शुभ है उसे सुरक्षित रखकर, अपनी संस्कृति को बचाकर वैसा करेंगे। यदि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में हम अपनी आध्यात्मिकता खो बैठें, तो उसे प्रगति का नाम नहीं दिया जा सकेगा तथा हम नहीं कह सकेंगे कि हम एक बेहतर देश के रूप में विकसित हुए हैं। यदि हम सम्यक् और सम्पूर्ण विकास चाहते हैं, तो उस विकास में हमारी आत्मा का, हमारे व्यक्तित्व के अन्तरतम प्रदेश का विकास अन्तर्भुक्त हो। वह आध्यात्मिकता ही है, जिसने हमारी संस्कृति को मजबूत बनाया है। हमारी यह आध्यात्मिकता ही हमारे समस्त धर्मों, सकल परम्पराओं और समूची सभ्यता

की विशेषता रही है। उसने हमें स्वार्थ से निःस्वार्थता की ओर, भय से अभय की ओर, बुद्धि से विवेक की ओर जाने का पाठ पढ़ाया है। यदि हम भारत को एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में निर्मित देखना चाहते हैं, यदि गरीबी को दूर भगा देना चाहते हैं, यदि समृद्धि और आधुनिक विज्ञानों को पनपते देखना चाहते हैं, तो उस आध्यात्मिक सूत्र को गँवा बैठने से काम नहीं बनेगा, जो हमें अपनी जड़ों से बाँधकर रखता है तथा हमारी महानता के क्षणों में, विपदाओं और पतन के क्षणों में भी हमें सतत बाँधे रखता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "भारत! उठो! और अपनी आध्यात्मिकता से सारे विश्व को जीत लो।" इन शब्दों ने उन्नीसवीं शताब्दी से गुजरकर बीसवीं शताब्दी में जाते समय राष्ट्रीय चेतना को झकझोरकर जगा दिया था; और आज भी जब हम बीसवीं शताब्दी से इक्कीसवीं में गुजर रहे हैं, इन शब्दों की उतनी ही आवश्यकता है। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अतीत के साथ सम्बन्ध को बिना काटे एक नया चिन्तन प्रदान किया। उनके चिन्तन की ताजगी ने उस विरासत को एक नयी स्फूर्ति प्रदान की, जिस पर उन्होंने अपना चिन्तन खड़ा किया था। भारत को इक्कीसवीं शताब्दी में ठेलने के लिए ऐसी ही मानसिक गतिशीलता की आवश्यकता है, जैसी कि उसे बीसवीं शताब्दी में ठेलने के लिए आवश्यक हुई थी।

रामकृष्ण संघ और रामकृष्ण मिशन ने यह जो सौ वर्ष की सेवा राष्ट्र को और देशवासियों को प्रदान की है, उसके लिए मैं उसे धन्यवाद देता हूँ और साथ ही उसका

अभिनन्दन भी करता हूँ। आप लोग सबके समक्ष कई उज्ज्वल पदचिह्न स्थापित करेंगे, सकल जीवों के लिए करुणा का सही धर्म प्रदर्शित करेंगे, शोषित और पद-दलित की सेवा का, ध्यान और कर्म का, अपनी और समाज की शुद्धि का ज्वलन्त उदाहरण रखेंगे तथा स्वामी विवेका-नन्द के इस आदेश के प्रति प्रतिबद्ध रहेंगे, "मनुष्य अपने भीतर निहित दिव्यता का प्रकाशन करे तथा संसार को विश्व का आध्यात्मिक एकत्व प्रतिबिम्बित करने में सहायता प्रदान करे।"

"मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि तुम लोगों को स्वयं अपनी रक्षा करनी है, दुधमुंहे बच्चों की तरह तुम क्यों आचरण कर रहे हो? यदि कोई तुम्हारे धर्म पर आक्रमण करता है, तुम उससे क्यों नहीं अपने धर्म-समर्थन द्वारा बचाव करते? जहाँ तक मेरा प्रश्न है, तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है...। (ईसाई) मिशनरियों का प्रभाव अब यहाँ (अमेरिका में) काफी घट चुका है तथा दिनोंदिन और भी घटता जा रहा है। हिन्दू धर्म पर उनके आक्रमण यदि तुम्हें चोट पहुँचाते हैं, तो चिड़चिड़े बच्चों की तरह क्यों तुम मेरे पास अपना रोना रोते हो? क्या तुम उसका जवाब नहीं दे सकते तथा उनके धर्म के दोषों को नहीं दिखा सकते? कायरता तो कोई धर्म नहीं है।"

—स्वामी विवेकानन्द

(अमेरिका से आलासिंगा पेरुमल को १ जुलाई १९८५ को लिखे पत्र से उद्धृत)

स्वामी विवेकानन्द : एक पत्रकार

प्राध्यापक शंकरी प्रसाद बसु

(प्राध्यापक बसु बँगला के प्रख्यात मनीषी और साहित्यकार हैं। उन्होंने रामकृष्ण-विवेकानन्द-भाव-आन्दोलन पर साधारण रूप से और स्वामी विवेकानन्द पर विशेष रूप से कई खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (बँगला, ७ खण्डों में) तथा 'निवेदिता लोकमाता' (बँगला, २ खण्डों में) विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं । सुधी लेखक को उनकी कृतियों पर प्रतिष्ठापूर्ण 'अकादमी पुरस्कार' और 'विवेकानन्द पुरस्कार' आदि से सम्मानित किया गया है । वर्तमान में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के बँगला विभाग के अध्यक्ष हैं। उनका प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के जुलाई १९७० अंक से साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक स्वामी विदेहात्मानन्द रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

यदि हम कहें कि आधुनिक भारत तथा विश्व के महान् धर्मनायक स्वामी विवेकानन्द एक 'पत्रकार' भी थे, तो यह बात अपने आप में थोड़ी विस्मयजनक-सी लगती है । पत्रकारिता जिन गुणों के लिए विख्यात है, उनका अध्यात्म के साथ कोई नाता होना असंगत-सा लगता है । पत्रकार के लिए किसी निहित उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखा हुआ 'संवाद' ही पूजा की वस्तु है, जबकि एक आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य एवं ईश्वर की आराधना करता है । अतः कहना न होगा कि स्वामी विवेकानन्द यदि हुए तो सत्य के पत्रकार रहे होंगे, क्योंकि सत्य ही उनके लिए प्राणस्वरूप था । जिन पत्रिकाओं की उन्होंने स्थापना तथा परिचालना की, उन्हें इतिहास में सम्भवतः पहली बार एक ऋषि की प्रत्यक्ष सेवा पाने का दुर्लभ सौभाग्य मिला । यह सब हुआ काल की आवश्यकता के

अनुरूप ही, क्योंकि पत्रकारिता वर्तमान युग का एक अविभाज्य अंग हो चुकी है। हमारे इस संवादप्रिय युग को एक ईश्वरद्रष्टा पत्रकार की प्रेरणा की जरूरत थी और उसे स्वामी विवेकानन्द ने पूर्ण किया।

पाठकों को स्वाधीनता है कि वे चाहे तो इसे हल्के-फुल्के ढंग से लें अथवा गम्भीरतापूर्वक, परन्तु इतिहास के पन्नों से कोई भी इस तथ्य को मिटा न सकेगा कि स्वामी विवेकानन्द ऐसी तीन पत्रिकाओं के जनक थे, जिन्होंने अपने प्रादुर्भाव के कुछ वर्षों के भीतर ही अद्‌भुत वैशिष्ट्य हासिल कर लिया था।

यह ठीक-ठीक बता पाना कठिन है कि स्वामीजी के मन में पत्रिकाएँ निकालने का विचार सर्वप्रथम कब आया। ऐसा लगता है कि जब से उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश का प्रचार करने का निश्चय किया, तभी से वे प्रचार-वाहन के रूप में पत्रिकाओं के बारे में भी सोचने लगे होंगे। उनका बचपन इतिहास के ऐसे काल में बीता था, जब सम्पूर्ण भारत में धार्मिक तथा समाज-सुधार आन्दोलन उदीयमान थे। उन्होंने अपनी आँखों से देखा था कि समकालीन पत्र-पत्रिकाएँ इन आन्दोलनों को कितना अधिक वेग प्रदान करती हैं। फिर पत्रकारिता के पीछे कभी-कभी झलकनेवाले खोखलेपन की ओर भी उनकी दृष्टि गयी थी। उस काल की पत्रिकाएँ अधिकांशतः व्यर्थ के शब्दजाल तथा हानिकर विदेशी भावों से परिपूर्ण रहा करती थीं। 'सत्य' और 'बल' स्वामीजी की मानवीय पुनरुत्थान की परिकल्पना के दो मूल सुर थे, पर इन पत्र-पत्रिकाओं में बहुधा उन्हें कोई स्थान नहीं मिलता था।

संन्यास लेकर विवेकानन्द बनने के पूर्व से ही नरेन्द्र

के मन में पत्रकारिता के प्रति रुझान के लक्षण दीख पड़े थे। नरेन्द्र का श्रीरामकृष्ण के एक गृही शिष्य उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को पत्रिकाएँ निकालने की प्रेरणा देना इसी बात का साक्ष्य है। श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में ही उपेन्द्रनाथ प्रकाशन के व्यवसाय में लग गये थे। सुनने में आता है कि श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "नरेन्द्र व्याख्यान देगा और उपेन छापाखाना चलाएगा।"

उपेन्द्रनाथ उन दिनों एक छोटे पुस्तक-विक्रेता थे। नरेन्द्रनाथ ने उन्हें पत्रिकाएँ प्रकाशित करने को उत्साहित किया और उन्हें व्यावसायिक परामर्श देकर तथा अन्य कई तरह से उनकी सहायता की। तत्कालीन बंगाल की सारी पत्रिकाएँ समाज-सुधारकों के नियंत्रण में थीं और इस कारण वे साम्प्रदायिक संकीर्णता से भी परिपूर्ण थीं। फिर वे पूरी तरह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व भी नहीं कर पाती थीं। इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखकर उपन्द्रनाथ ने १८८९ ई. में 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक एक बंगला पत्रिका आरम्भ की। कुछ महीनों के भीतर ही प्रख्यात साहित्यकार सुरेशचन्द्र समाजपति इसका सम्पादन करने लगे। (बाद में इस पत्रिका का नाम परिवर्तित होकर 'साहित्य' हो गया। इसने बंगाल के सांस्कृतिक जीवन में अपने लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।)

उस काल के प्रमुख पत्रकार श्रीयुत् हेमेन्द्रनाथ घोष का उद्धरण देते हुए सुरेशचन्द्र ने बताया है कि 'साहित्य-कल्पद्रुम' के मुख्य प्रेरणा-स्रोत नरेन्द्रनाथ ही थे। श्रीयुत् घोष ने लिखा था—"विवेकानन्द जब अपने गुरुभाई उपेन्द्रनाथ को बारम्बार एक संवादपत्र निकालने को

प्रोत्साहित कर रहे थे, तो उपेन्द्रनाथ कहते, 'साहस नहीं होता।' उन दिनों वे इस कार्य के लिए धीरे-धीरे प्रस्तुत हो रहे थे। क्रमशः उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, पर बाद में विविध कारणों से वे सभी बन्द हो गयीं और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध 'वसुमती' बँगला पत्रिका का प्रादुर्भाव हुआ।" यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि युवा नरेन्द्रनाथ ने टॉमस-ए-केम्पिस द्वारा लिखित Imitation of Christ (ईसानुसरण) का बँगला अनुवाद किया था, जो 'साहित्य-कल्पद्रुम' के प्रवेशांक से लगातार पाँच अंकों में धारा-वाहिक रूप से प्रकाशित हुआ।

ये सारी घटनाएँ नरेन्द्रनाथ के विवेकानन्द होने से पूर्व ही हो चुकी थीं। इसके कुछ काल बाद ही अपरिचित युवा नरेन्द्रनाथ वेदान्त-प्रचारार्थ अमेरिका जाकर विश्व-विख्यात विवेकानन्द हो गये। इसी बीच, स्वामीजी के भारत लौटने के पूर्व ही, १८९६ ई. के अगस्त में उपेन्द्रनाथ ने साप्ताहिक 'वसुमती' का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका ने स्वामी विवेकानन्द के सन्देश से ही प्रेरणा लेकर एक अभिनव आदर्शवाक्य (motto) स्वीकार किया था—'नमो नारायणाय'।

हम पहले ही कह आये हैं कि उपेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के शिष्य तथा विवेकानन्द के मित्र थे, अतः रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रसार में 'वसुमती' ने काफी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। तो भी व्यावसायिक दृष्टि-कोण से उपेन्द्रनाथ द्वारा प्रारम्भ की गयी यह पत्रिका कभी भी विवेकानन्द के आदर्श की प्रवक्ता नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त स्वामीजी के सार्वभौमिक तथा वेदान्तिक विचारों की वाहक पत्रिका यदि केवल बँगला

भाषा में ही निकलती, तो वह अपने लक्ष्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल नहीं हो सकती थी ।

विश्व-मंच पर प्रकट होने के बाद से ही स्वामीजी को सत्य के प्रचारार्थ तथा मिथ्यात्व के प्रतिरोधार्थ यथा-शीघ्र एक पत्रिका निकालने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी । तत्कालीन अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं ने जहाँ स्वामीजी को हार्दिक संवर्धना प्रदान की थी, वहीं उनसे कहीं अधिक संख्या में अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने उनके मत एवं चरित्र को विकृत करने का भी प्रयास किया था। स्वामीजी को यह भी महसूस हुआ कि ये संवादपत्र तभी तक उनका समर्थन करेंगे, जब तक उससे उनका कुछ मतलब सिद्ध होता है; मत-पार्थक्य होने पर उनका समर्थन पाने के लिए व्यक्ति को अपना मत-स्वातंत्र्य ताक पर रखकर उनके साथ समझौता करना होगा । स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति के लिए ऐसा कर पाने की कल्पना तक सह्य न थी । स्वामीजी ने सोचा कि अमेरिका में मेरी अभूतपूर्व सफलता के फलस्वरूप भारत में जो उत्साह की लहर उठी है, उसे यदि स्तुतिगान तक ही सीमित नहीं रह जाना है, तो उसे एक सुनिश्चित दिशा प्रदान करनी होगी। इसीलिए उन्होंने एक संगठन तथा उसके एक मुखपत्र की आवश्यकता अनुभव की ।

अमेरिका-निवासकाल में ही जब स्वामीजी की पत्रिका-प्रकाशन की कल्पना ने संकल्प का रूप धारण किया, तो इस कार्य में सहयोग के लिए सबसे पहले उनके मन में श्रीयुत आलासिंगा पेरुमल का चित्र उभरा । धन्य हो आलासिंगा ! रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन के इतिहास में तुम्हारा कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है ! स्वामी विवेकानन्द

को अमेरिका भेजने में तुम्हीं अग्रणी हुए थे और अब आधुनिक भारत की प्रथम वेदान्त-पत्रिका के संगठक एवं सम्पादक के रूप में स्वामीजी ने तुम्हारा ही चयन किया ! अपने गुरुदेव विवेकानन्द की भाँति ही आलासिंगा ने भी एक पत्रिका की जरूरत महसूस की थी और अपने इस विचार से स्वामीजी को अवगत भी कराया था। प्रारम्भ में तो स्वामीजी ने इस प्रस्ताव को गम्भीरता से लेने की जगह नि:स्वार्थ सेवा के महत्त्व पर ही ज्यादा बल दिया था। २८ मई १८९४ ई. को आलासिंगा के नाम एक प्रेरक पत्र में उन्होंने लिखा—"समाचार-पत्र और मासिक-पत्र आदि चलाना निस्सन्देह ठीक है, पर अनन्त काल तक चिल्लाने और कलम घिसने की अपेक्षा कण मात्र भी सच्चा काम कहीं बढ़कर है।"[1]

परन्तु कुछ महीनों बाद ही हम देखते हैं कि स्वामीजी आलासिंगा को एक पत्रिका के प्रकाशन के सम्बन्ध में निर्देश दे रहे हैं। स्वामीजी के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन का क्या कारण था? सम्भवतः उन्हें लगा कि आलासिंगा एक अलग श्रेणी के व्यक्ति हैं और वे उनके द्वारा प्रवर्तित नि:स्वार्थ सेवा की नवीन धारा के लिए उपयुक्त नहीं हैं। आलासिंगा की धर्म के 'प्रचार'-पक्ष में अधिक रुचि थी और इस कार्य में वे अक्लान्त परिश्रम कर सकते थे। विचारगोष्ठी का आयोजन, जनसम्पर्क तथा पुस्तक एवं पत्रिकाएँ प्रकाशित करना—ये उनके प्रिय कार्य थे।[2]

---

१. 'विवेकानन्द साहित्य' खण्ड २, प्र.सं., पृ. ३५८।

२. आलासिंगा के जीवन के बारे में जो थोड़ी-बहुत जानकारी उपलब्ध है, उससे पता चलता है कि आलासिंगा का जन्म मैसूर राज्य (अब कर्नाटक) के चिकमंगलूर नामक स्थान में हुआ था।

स्वामीजी को शीघ्र ही आलासिंगा की साहित्यिक रुझान तथा कार्यक्षमता ज्ञात हो गयीं और उन्होंने आलासिंगा को इसी कार्य में नियुक्त किया, जिसमें वे अपने जीवन के अन्तिम काल तक लगे रहे थे।

उनके पिता श्रीयुत नरसिंहाचार्य सम्पन्न न होते हुए भी एक सम्भ्रान्त श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के थे। आलासिंगा ने मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज तथा मद्रास क्रिश्चियन कालेज से शिक्षा ग्रहण की थी। १८८४ ई. में विज्ञान की डिग्री लेने के बाद आर्थिक कठिनाइयों की वजह से आगे की शिक्षा जारी रखना उनके लिए सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने एक स्कूल में शिक्षक की नौकरी स्वीकार कर ली। शिक्षक के रूप में वे इतने योग्य सिद्ध हुए कि शीघ्र ही उन्हें वहाँ के पचैयप्पा हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक का पद सौंप दिया गया। अपने जीवन के अन्तिम काल तक वे इसी पद पर बने रहे थे। अपने देहावसान के कुछ काल पूर्व से उन्होंने पचैयप्पा कालेज में भौतिक एवं रसायन शास्त्र का अध्यापन भी किया था।

ईसाई मिशनरियों के हिन्दुत्व-विरोधी प्रचार से आलासिंगा के मन में क्षोभ हुआ करता था। सुप्रसिद्ध संस्कृत के विद्वान् प्रो० रंगाचार्य उनके बहनोई तथा प्रसिद्ध वैष्णव पण्डित योगी पार्थसारथि अय्यंगार उनके चाचा थे, जो अमेरिका में हिन्दू लीग से सम्बन्धित थे। शिकागो में होनेवाली धर्म-महासभा के बारे में सर्वप्रथम उन्होंने ही आलासिंगा को सूचना दी थी। उसके बाद से आलासिंगा किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में थे, जो उस सभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व कर सके। स्वामी विवेकानन्द से मिलते ही उन्हें बोध हुआ कि ये एक असाधारण एवं ईश्वरनिर्दिष्ट पुरुष हैं। धर्म में रुचि लेनेवाले आलासिंगा के शिक्षित मित्रों की एक मण्डली थी, जो प्रायः ही मिलकर धर्म पर चर्चा एवं विचार-

जहाँ तक हमें पता है स्वामीजी ने अपने ११ जुलाई १८९४ ई. के पत्र में ही आलासिंगा को एक पत्रिका के प्रकाशन की स्वीकृति दे दी थी, जिसमें उन्होंने लिखा था—"पत्रिका शुरू करो और मैं तुम्हें बीच-बीच में लेखादि भेजता रहूँगा।...पत्रिका प्रकाशन तथा अन्य खर्चों के लिए मैं बीच-बीच में तुम लोगों को कुछ भेजने की चेष्टा करूँगा।...मद्रास से पत्रिका निकलने की चर्चा हो रही थी उसका क्या हुआ?...किडी से लेख लिखाओ।"

इस पत्र के मजमून से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस तिथि के काफी पूर्व से ही एक पत्रिका के प्रकाशन के बारे में चर्चा चल रही थी। तथापि इस पत्र-व्यवहार के लगभग एक वर्ष से भी अधिक काल बाद ही पत्रिका वास्तविक रूप से निकल सकी थी। इस अन्तरिम काल के अपने अनेक पत्रों में स्वामीजी ने इस विषय में काफी प्रेरणास्पद बातें लिखी थीं तथा बारम्बार इसकी याद दिलायी थी।[3]

विनिमय किया करती थी। एनी बेसेण्ट के साथ भी इन लोगों का घनिष्ठ परिचय था।

'ब्रह्मवादिन्' के अतिरिक्त आलासिंगा 'इण्डिया' नामक पत्रिका से भी सम्बन्धित थे। तिरुमलाचार्य द्वारा प्रकाशित यह दूसरी पत्रिका उग्र राजनीतिक विचारों की पृष्ठपोषक थी। आलासिंगा ने इस पत्रिका में भी काफी सहानुभूति एवं रुचि दिखायी और इसकी उन्नति के लिए प्रसिद्ध तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् भारती को इसमें ले आये, जो पहले 'स्वदेश मित्रन्' पत्रिका में थे।

३. अन्य पत्रों के दिनांक हैं ३१ अगस्त १८९४, २९ सितम्बर १८९४, उसी वर्ष का एक अन्य पत्र, ६ मई १८९५, २८ मई १८९५, १ जुलाई १८९५, ३० जुलाई १८९५ इत्यादि।

इन पत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि स्वामीजी चाहते थे कि एक समिति की स्थापना करके उसके मुखपत्र के रूप में पत्रिका निकाली जाय। इस विषय में उन्होंने विस्तृत निर्देश भेजे और बताया कि वे स्वयं कितनी धन-राशि किस प्रकार भेज सकेंगे, पत्रिका किन सिद्धान्तों पर चलेगी, और यहाँ तक लिखा कि उसके लिए ग्राहक किस प्रकार बनाये जाएँगे। यह बात स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है कि इसकी आर्थिक जिम्मेदारी प्रायः पूरी की पूरी स्वामीजी ने अपने ही ऊपर ले ली थी। उन्हीं की सहमति से पत्रिका का नाम 'ब्रह्मवादिन्' और उसका आदर्श वाक्य 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[४] निर्धारित हुआ था। फिर प्रस्तावित समिति का 'प्रबुद्ध भारत'[५] नाम भी स्वामीजी का ही दिया हुआ था।

---

४. 'सत्य एक है, पर ऋषिगण उसे विविध नामों से पुकारते हैं।'

५. 'ब्रह्मवादिन्' के prospectus (विवरण-पत्र) का कुछ अंश विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। यहाँ पर हम 'इण्डियन मिरर' के २७ जुलाई १८९५ ई० के अंक से उद्धृत करने जा रहे हैं—

"स्वामी विवेकानन्द का परामर्श एवं प्रोत्साहन पाकर एक साप्ताहिक प्रारम्भ करने की योजना बनी है, जिसका नाम 'ब्रह्म-वादिन्' होगा। इस पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य होगा—भारत के वेदान्त-धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा हिन्दू धर्म के उदात्त एवं सार्वभौमिक आदर्शों के दृढ़ आधार पर मानव-जाति की सामाजिक तथा नैतिक अवस्था में उन्नति लाने की दिशा में कार्य करना। मानव-हृदय को प्रेरणा, भलाई और सौन्दर्य-प्रेम से परिपूर्ण कर देने की किसी आदर्श की क्षमता उसकी अपनी उदात्तता

हमें ऐसा भी दीख पड़ता है कि स्वामीजी ने न केवल पत्रिकाएँ निकालने का बल्कि समाचार-पत्र प्रकाशित करने हेतु प्रेस लगाने का भी इरादा किया था। पत्रिका के बारे में तो स्वामीजी की चिन्ताओं का कोई अन्त न था। पत्रिका में किस तरह के लेख छापे जाएँगे, रचना की कौन-सी शैली अपनायी जाएगी, किन लोगों से लेख लिखवाये

एवं पवित्रता में निहित है; और ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त हिन्दू धर्मशास्त्रों में लिपिबद्ध आदर्शों को श्रेष्ठ एवं शुद्धतम ढंग से प्रस्तुत करना ही 'ब्रह्मवादिन्' का प्रयास रहेगा। यह बात ध्यान में रखकर कि हिन्दू शास्त्र में निरूपित आदर्शों तथा हिन्दुओं के व्यावहारिक जीवन के बीच एक चौड़ी खाई है, प्रस्तावित पत्रिका इसे यथासम्भव पाटने का प्रयत्न निरन्तर करती रहेगी; ताकि इस देश की सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ इन उच्च एवं अलौकिक आदर्शों से अधिकाधिक मेल खाने लगें।...

"आज का अभिनव भारत अनेक मायनों में शताब्दियों पूर्व के प्राचीन भारत से काफी कुछ भिन्न है और आधुनिक जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार हमारी समस्त प्राचीन संस्थाओं का पुनः सामंजस्य करना होगा। अतः हमारी इस प्राचीन मातृभूमि में जहाँ पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति एवं सहायता के रूप में ऊपर का पुनीत आलोक सदैव प्रकाशित होता रहा है, आज यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि हिन्दू धर्म अब पहले से अधिक निष्ठापूर्वक मानवता की सेवा में लग जाय। हिन्दू धर्म चूँकि मानवीय पूर्णता की ओर क्रमशः प्रगति तथा सर्वधर्म-समभाव में विश्वास रखता है, 'ब्रह्मवादिन्' का किसी भी मत के साथ कोई विवाद नहीं रहेगा, अपितु किसी भी धर्म की पताका के तले हो रहे मानव को सबल एवं उदात्त बनाने के प्रयास में यह सहायक होने

जायँ आदि विषयों पर स्वामीजी ने पत्र के द्वारा जितना भी सम्भव था निर्देश भेजे। परन्तु पत्रिका स्वामीजी के आशानुरूप शीघ्रतापूर्वक न ीं निकल सकी और इस विलम्ब पर वे खीझे तथा नाराज तक हुए। और जब पत्रिका वास्तव में प्रकाशित हुई तथा उनको इसकी एक प्रति भेजी गयी, तो उन्होंने उस पर आनन्द तो व्यक्त किया, परन्तु उसकी विशेष प्रशंसा नहीं की, यह सोचकर कि कहीं वह उसकी प्रगति में बाधक न हो जाय। बाद में स्वामीजी के अनेक पत्रों में हम इस पत्रिका के बारे में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि तथा सविस्तार समालोचना देख पाते हैं। उनकी यह समालोचना विषयवस्तु की गम्भीरता तक ही सीमित न थी, वरन् मुखपृष्ठ की छपाई आदि अन्य छोटी-मोटी चीजों तक फैली हुई थी। 'ब्रह्मवादिन्' का मुखपृष्ठ कुछ खास सुन्दर नहीं बन पड़ा था और स्वामीजी के समान सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति कला के इस भोंड़ेपन को भला कैसे सहन कर पाता? यहाँ तक कि विज्ञापन के मामले में भी

का प्रयास करेगा। सभी सत्य एक हैं और उनमें आपस में पूर्ण सामंजस्य है; धर्म को यदि किसी से घृणा ही करनी है तो बुराइयों से ही करनी होगी।..."

भवदीय,

जी. वेंकटरंगा राव
एम. ए., एम.सी.

नंजुन्दा राव
बी.ए., एम.बी.
सी.एम., एम.सी.

आलासिंगा पेरुमल
बी.ए.

ट्रिप्लिकेन मद्रास

१५ जुलाई १८९५

स्वामीजी ने अपना मत दिया था। उन्होंने लिखा था— "विज्ञापन ही पत्रिका को चलाता है।"

पत्रिका की साज-सज्जा तथा आर्थिक मामलों में स्वामीजी ने समालोचना करते हुए स्नेहपूर्ण झिड़की भरी थी; परन्तु जहाँ तक पत्रिका के मूल सिद्धान्तों का प्रश्न था, वे टस से मस नहीं हो सकते थे। 'ब्रह्मवादिन्' वेदान्त की पत्रिका थी, जबकि थियोसॉफी को स्वामीजी रहस्यमय गुह्यविद्या के रूप में देखते थे, जो वेदान्त के सिद्धान्तों के बिल्कुल ही विपरीत थी। अतः वे थियोसॉफिस्ट लोगों के साथ कोई भी समझौता करने को राजी न थे। यही कारण है कि जब 'ब्रह्मवादिन्' के कुछ अंकों में उन्होंने थियो-सॉफी के विचारों की झलक देखी तो वे मौन न रह सके और इस द्रोह की उन्होंने कठोर शब्दों में भर्त्सना की। इस कठोर समालोचना पर आलासिंगा बड़े ही लज्जित हुए और कुछ व्यक्तिगत पत्रों तथा पत्रिका के माध्यम से भी अपने गुरुदेव को बताया कि 'ब्रह्मवादिन्' ने वेदान्त का त्याग नहीं किया है। इसके साथ ही उन्होंने, निश्चय ही अत्यन्त खेदपूर्वक, इस पत्रिका का उत्तरदायित्व एक कमेटी के हाथों में सौंप देने का प्रस्ताव भी रखा था। स्वामीजी को भी दुःख हुआ, पर आलासिंगा के लिए उनके स्नेह की सीमा न थी। अतः उन्होंने शिष्य से आन्तरिक अनुरोध किया कि वे इस पत्रिका के स्वत्वाधिकारी तथा निर्देशक बने रहें।

स्वामीजी की सहायता एवं प्रेरणा तथा आलासिंगा के कमरतोड़ परिश्रम के फलस्वरूप ही आलासिंगा के पूरे जीवनकाल में 'ब्रह्मवादिन्' का सफल प्रकाशन हो सका था, परन्तु उनके देहावसान के कुछ वर्षों के भीतर

(ऊपर)

आलासिंगा पेरुमल

(दायें)

बी. आर. राजम अय्यर

('प्रबुद्ध भारत' के प्रथम सम्पादक)

ऊपर : स्वामी विवेकानन्द (बीच में कुर्सी पर)
डा० नंजुन्दा राव (जमीन पर बाँयें से चौथे)

नीचे : श्रीमती सेवियर एवं कैप्टेन सेवियर
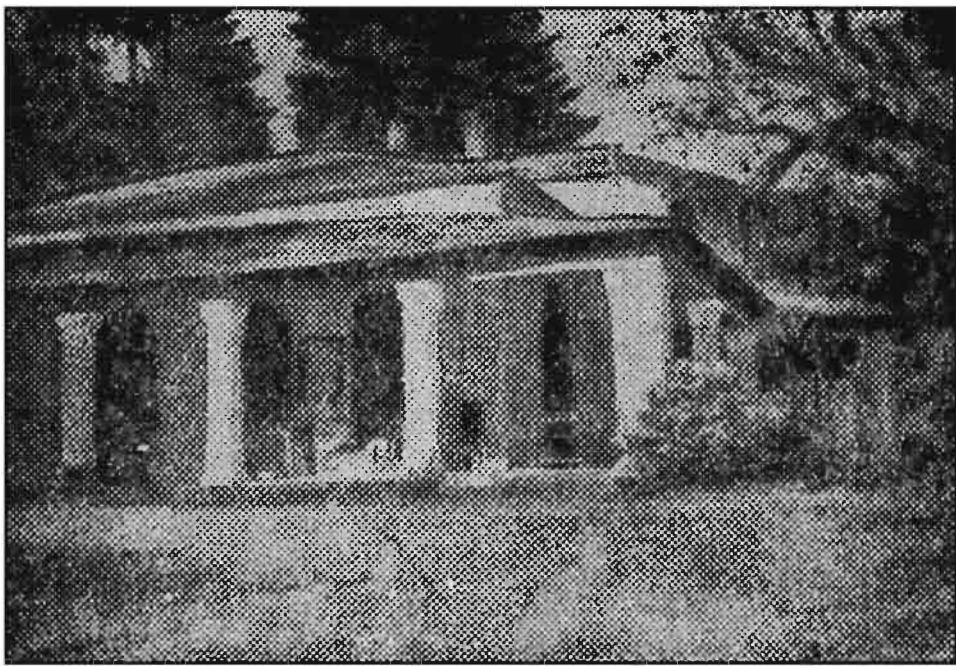
ऊपर : थामसन हाउस
नीचे : अद्वैत आश्रम, मायावती
(जहाँ स्वामीजी ठहरे थे)
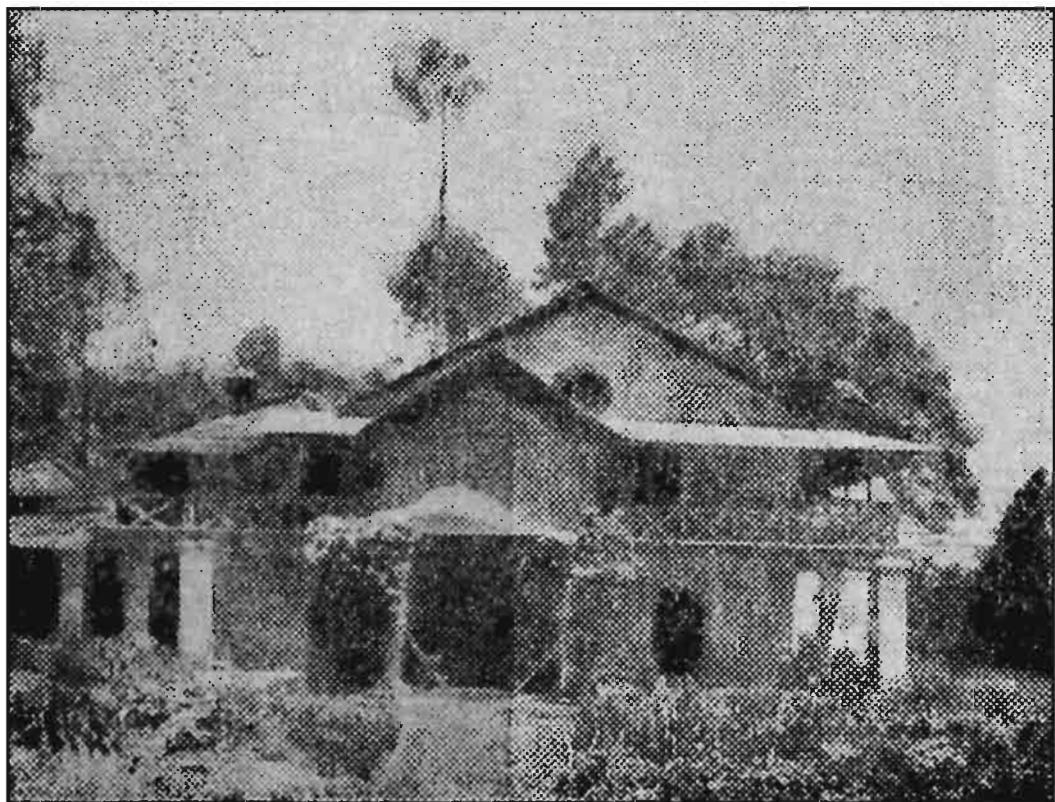
ऊपर : स्वामी स्वरूपानन्द (अद्वैत आश्रम के प्रथम अध्यक्ष)
दायें : भगिनी निवेदिता

ही उसका निकलना बन्द हो गया। आर्थिक दृष्टि से यह पत्रिका कभी भी सफल नहीं रही थी, बल्कि यह जीवित रही थी तो अपने जीवनदायी विचारों के कारण ही। इसे जिन भयंकर संघर्षों से होकर गुजरना पड़ा था, उसकी किंचित् झलक हमें उन संकेतों में मिल जाती है, जो स्वामीजी की 'पत्रावली' में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। आज लगभग पौन शताब्दी (अब वस्तुतः ९० वर्ष) बाद उस इतिहास को खोद निकालने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु एक बात हमें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि अपनी पृष्ठभूमि में चल रहे इतने कठोर संघर्षों के बीच भी 'ब्रह्मवादिन्' ने विश्व को कभी अपना निराश चेहरा न दिखाकर सर्वदा अपना सर्वदुःखहर आलोकित मुखड़ा ही दिखाया। भारत के तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में इस पत्रिका को काफी महत्त्व दिया गया था और इस सन्दर्भ में विवेकानन्द और आलासिंगा—ये दो अविस्मरणीय नाम बारम्बार दुहराये गये थे।

'ब्रह्मवादिन्' का प्रवेशांक निकलने के कुछ पूर्व ही 'इण्डियन मिरर' (२७ जुलाई १८९५ ई.) ने इस पत्रिका के आगमन के संवाद पर हर्ष व्यक्त करते हुए लिखा था—"सर्वत्र धार्मिक विचारों एवं आकांक्षाओं का अरुणोदय हो रहा है और हम आशा कर सकते हैं कि 'ब्रह्मवादिन्' अपनी उदार तथा असाम्प्रदायिक भावनाओं के साथ इस युग की आकांक्षाओं के साथ एकरूप हो सकेगा।"

'इण्डियन मिरर' की इन आशाओं को पूर्ण करने में 'ब्रह्मवादिन्' किस हद तक सफल हो सका था इसका आभास हमें आलासिगा के दिवंगत होने पर सुप्रसिद्ध एंग्लो-इण्डियन सान्ध्य-दैनिक 'मद्रास मेल' में छपे एक

शोक-संवाद में मिलता है—"उन्होंने (आलासिंगा ने) रामकृष्ण मिशन के संन्यासीवृन्द का सहयोग लेकर 'ब्रह्म-वादिन्' की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, जो वेदान्त-दर्शन की व्याख्या को समर्पित है तथा विश्व के विविध अंचलों में चल रहे रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन की प्रगति की सूचना देनेवाली अँगरेजी में प्रथम एवं प्रमुख भारतीय पत्रिका है।"

हम पहले कह आये हैं कि 'ब्रह्मवादिन्' यद्यपि स्वामीजी की ही आर्थिक सहायता एवं प्रत्यक्ष प्रेरणा से चल रही थी, तथापि स्वामीजी के ही निर्देशानुसार आलासिंगा इसके स्वत्वाधिकारी बने रहे। इस पत्रिका में स्वामीजी के अनेक व्याख्यान और लेख तथा साथ ही रामकृष्ण-आन्दोलन के बारे में बहुत-सी सूचनाएँ भी प्रकाशित हुआ करती थीं। परन्तु 'ब्रह्मवादिन्' रामकृष्ण मिशन का मुख-पत्र नहीं था। बाद में मिशन का अपना मुखपत्र भी स्वामीजी के जीवनकाल में ही अस्तित्व में आया, तो भी 'ब्रह्म-वादिन्' पर स्वामीजी की कृपा और आशीष सदा बना रहा। 'ब्रह्मवादिन्' के नवम्बर १९१० ई. के अंक में प्रकाशित एक रपट में स्वामीजी के साथ इसके सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिसे उद्धृत कर हम इस लेखांश का समापन करते हैं—"ब्रह्मलीन स्वामी विवेका-नन्द के निःश्वास-प्रश्वास से ही इस (ब्रह्मवादिन्) का जन्म हुआ था। (अपने जीवन के प्रथम) पाँच वर्षों तक यह उनके स्नेहपूर्ण हाथों से जीवनीशक्ति तथा पुष्टि पाते हुए राजा के समान चलती रही। परन्तु बाद के सुदीर्घ १० वर्षों के अपनी सेवा के घटनाबहुल दूसरे चरण में इसे अपनी जीवनरक्षा के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा।

. . .यह पत्रिका सदा ही अपने दिवंगत गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट उच्च आदर्शों के प्रति निष्ठावान् रहने का प्रयास करती आयी है, और जान-बूझकर इस आदर्श को नीचे लाने की दिशा में कुछ भी नहीं किया गया है ।"

(२)

'ब्रह्मवादिन्' की आयु अभी मुश्किल से दस महीने ही हुई थी कि स्वामीजी के मद्रास के ही भक्तों ने 'प्रबुद्ध भारत' नामक एक और अँगरेजी मासिक निकालना आरम्भ किया । ऐसा लग सकता है कि इस द्वितीय पत्रिका का उद्भव विवेकानन्द के अनुयायियों के बीच कुछ आदर्शमूलक मतभेदों के कारण हुआ होगा, परन्तु वास्तविकता कुछ और ही थी । यह पत्रिका भी स्वामीजी की प्रेरणा से ही आरम्भ हुई और 'ब्रह्मवादिन्' के सम्पादक आलासिंगा भी इसके संयोजकों में एक थे । 'प्रबुद्ध भारत' के अगस्त १९४७ ई. के अंक में प्रकाशित एक लेख में श्री एम. जी. श्रीनिवासन् ने लिखा है कि इस पत्रिका के संचालन में भी आलासिंगा का प्रमुख हाथ था । वे लिखते हैं—"प्रबुद्ध भारत' भी अपने जन्म के लिए आलासिंगा का ऋणी है । उन्होंने ही सर्वप्रथम यह विचार रखा कि 'ब्रह्मवादिन्' का स्तर काफी ऊँचा होने के कारण यह वेदान्ती पण्डितों एवं परिपक्व लोगों के लिए ही उपयोगी है, अतः नवयुवकों तथा कम शिक्षित लोगों के लाभार्थ एक अन्य अँगरेजी पत्रिका निकाली जाय, जिसमें सरलतर तथा कम विद्वत्ता-पूर्ण लेख रहें । आलासिंगा ने ही 'प्रबुद्ध भारत' के प्रथम सम्पादक के रूप में श्री बी. आर. राजम अय्यर का चयन किया था । यह पत्रिका आलासिंगा, डा. नंजुन्दा राव तथा जी. जी. नरसिंहाचार के सम्मिलित प्रयासों से १८९६ ई.

में प्रारम्भ हुई।"

श्री श्रीनिवासन् के उपर्युक्त कथन की सत्यता में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि हम स्वामीजी के कई पत्रों में 'ब्रह्मवादिन्' के सम्पादकीय तथा अन्य लेखों की दुरूहता पर उन्हें टीका करते देख पाते हैं। अत्यन्त पण्डिताऊ शैली में लिखे गये ये लेख प्रत्येक द्वार तक वेदान्त का सन्देश पहुँचाने में उपयुक्त साधन का काम नहीं कर सकते थे। फिर दूसरी ओर इन गहन दार्शनिक शैली में लिखे प्रबन्धों को सरल-सहज करने का कोई भी प्रयास विद्वन्मण्डली में फैले 'ब्रह्मवादिन्' के सुनाम को क्षति पहुँचाता। ऐसी परिस्थिति में एक दूसरी पत्रिका निकालने का विचार स्वाभाविक ही था और सम्भव है कि यह विचार आलासिंगा के मन में ही उठा हो।

परन्तु हमारे पास इसका कोई समकालीन साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि केवल आलासिंगा ने ही इस द्वितीय पत्रिका के बारे में सोचा था। बल्कि स्वामीजी के पत्रों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस बार डा० नंजुन्दा राव ने पहल की थी और सम्भव है कि इस प्रस्ताव में आलासिंगा भी उनके साथ संयुक्त रहे न्हों।

अपने १४ अप्रैल १८९६ ई. के पत्र में हम स्वामीजी को पहली बार इस नवीन पत्रिका के बारे में अपने विचार व्यक्त करते देख पाते हैं। न्यूयार्क से उन्होंने डा० नंजुन्दा राव को लिखा था—"लड़कों के लिए पत्रिका प्रकाशित करने का जो तुम विचार कर रहे हो, उससे मुझे पूर्ण सहानुभूति है और मैं उसकी सहायता करने का पूरा-पूरा यत्न करूँगा। उसे स्वाधीन होना चाहिए; 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका की पद्धति का अनुसरण करो, अन्तर बस यही कि

तुम्हारी पत्रिका की लेखन-शैली और विषय उससे अधिक लोकप्रिय होने चाहिए ।...पत्रिका को विद्वत्तापूर्ण करने का प्रयत्न न करना—'ब्रह्मवादिन्' उसके लिए है ।... उसमें तत्त्व-दर्शन बिल्कुल न आने देना । ..लेन-देन आदि का पूरा काम तुम अपने ही हाथ में रखना, ज्यादा लोगों में गड़बड़घोटाला हो जाता है ।"

इस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पत्रिका को चलाने का पूरा उत्तरदायित्व स्वामीजी ने डा० नंजुन्दा राव को सौंपा था, ठीक उसी प्रकार जैसा कि 'ब्रह्मवादिन्' की जिम्मेवारी आलासिंगा पर थी । यहाँ स्वामीजी प्रस्तावित पत्रिका का 'ब्रह्मवादिन्' से भेद स्पष्ट करते हुए यह भी बताते हैं कि इसका अपना वैशिष्टच क्या होगा । उसी पत्र में उन्होंने लिखा था—"संस्कृत-साहित्य की बिखरी हुई अद्भुत कहानियों को ले लो । उन्हें फिर से लोकप्रिय ढंग से लिखने का यह इतना बड़ा सुअवसर है कि जिसके महत्त्व को तुम स्वप्न में भी नहीं समझ सकते । यह तुम्हारी पत्रिका का मुख्य विषय होना चाहिए । जब मुझे समय मिलेगा, तब जितनी कहानियाँ मैं लिख सकता हूँ, लिखूँगा ।" परन्तु अपने विविध कार्यों में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण स्वामीजी इस दिशा में कुछ भी न कर सके थे ।[६] तो भी उनके अनेक सर्वोत्तम व्याख्यान एवं लेख इसमें प्रकाशित हुए, जिसके फलस्वरूप यह पत्रिका सदा के लिए महिमान्वित हो गयी ।

६. स्वामीजी से प्रेरणा पाकर भगिनी निवेदिता ने इस कार्य को अपने हाथ में लेकर काफी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया । 'Cradle Tales of Hinduism' (हिन्दू धर्म की बालकथाएँ) इस विषय में उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक है ।

१४ अप्रैल १८९६ ई. के इसी पत्र के अन्तिम भाग में हम देखते हैं कि स्वामीजी ने वहाँ यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस पत्रिका के लिए उन्होंने जिस 'सहायता' का वचन दिया है, वह आर्थिक नहीं होगी, पर साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि वे ऐसे दाताओं को ढूंढ़ने का प्रयास करेंगे, जो इसे आर्थिक सहायता दे सकें। स्वामीजी द्वारा इस पत्रिका की सहायता न कर पाने का कारण यह था कि उन दिनों वे साधनहीन थे। स्वामीजी की जीवनी का प्रत्येक पाठक इस तथ्य से भिज्ञ होगा कि अपने अमेरिका-प्रवास के अन्तिम चरण में वे वहाँ के सच्चे साधकों को भारतीय रीति के अनुसार निःशुल्क शिक्षादान कर रहे थे और इसके फलस्वरूप उनके पास पहले की संग्रहित धनराशि उनकी पहले से चल रही विविध योजनाओं के रूपायन में व्यय हो गयी थी।

'प्रबुद्ध भारत' के प्रमुख संयोजक डा० नंजुन्दा राव मद्रास के एक प्रसिद्ध चिकित्सक तथा दर्शनशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। उनके द्वारा लिखित 'Cosmic Consciousness of the Vedantic Idea of Mukti' (वेदान्त में निरूपित मुक्ति के सिद्धान्त की ब्रह्माण्डीय चेतना) नामक पुस्तक १९०९ ई. में प्रकाशित होकर सम्पूर्ण भारत में काफी चर्चित एवं प्रशंसित हुई थी। ऐसे योग्य कन्धों पर स्वामीजी ने इस पत्रिका का पूरा भार न्यस्त किया था और इस कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादन हेतु स्वामीजी ने अपनी अग्निमयी वाणी में उनके नाम कई पत्र लिखे थे। उन्होंने लिखा कि यह पत्रिका ही तुम्हारे लिए ईश्वर के समान हो। फिर १४ अप्रैल १८९६ ई. के उसी पत्र में स्वामीजी ने कुछ ऐसी प्रेरक पंक्तियाँ लिखी

थीं, जो अभूतपूर्व थीं—"वीरता से आगे बढ़ो। एक दिन या एक साल में सिद्धि की आशा न रखो। उच्चतम आदर्श पर दृढ़ रहो। स्थिर रहो। स्वार्थपरता और ईर्ष्या से बचो। आज्ञा-पालन करो। सत्य, मनुष्य-जाति और अपने देश के पक्ष पर सदा के लिए अटल रहो, और तुम संसार को हिला दोगे। याद रखो—व्यक्ति ही, उसका जीवन ही शक्ति का स्रोत है, इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं। इस पत्र को रखे रहना, और जब कभी तुम्हारे मन में चिन्ता या ईर्ष्या का उदय हो, तब इसकी अन्तिम पंक्तियाँ पढ़ लिया करना। ईर्ष्या के रोग से दास लोग सदा ग्रसित रहते हैं। हमारे देश का भी यही रोग है। इससे हमेशा बचो। सब आशीर्वाद और सर्वसिद्धि तुम्हारी हो।"[७]

'प्रबुद्ध भारत' के व्यवस्थापक सिंगरावेलु मुदलियार, जिन्हें स्वामीजी स्नेहपूर्वक 'किडी' कहा करते थे, भी एक असाधारण व्यक्ति थे। अपने प्रतिभाशाली छात्र-जीवन के पश्चात् वे मद्रास क्रिश्चियन कालेज में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हो गये थे। फिर स्वामीजी के सम्पर्क में आकर उनका जीवन रूपान्तरित हुआ और गृहस्थाश्रमी किडी त्यागी हो गये। 'प्रबुद्ध भारत' की निष्ठापूर्ण सेवा ही एकमात्र कार्य था, जिसे उन्होंने त्यागा नहीं। १९०१ ई. में उनके असामयिक निधन पर 'ब्रह्मवादिन्' ने लिखा कि उनके सच्चे आध्यात्मिक जीवन के मूल में स्वामीजी की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी। "उनके व्यक्तित्व में भिदी हुई उनकी निष्ठा एवं तत्परता का बोध उनके प्रत्येक मित्र को होता था और यही 'प्रबुद्ध भारत' की सफलता का

७. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ४, प्र०सं०, पृ० ३९५।

राज था, जिसके वे प्रारम्भ से ही व्यवस्थापक रहे। (उनके ये ही गुण) उनके अध्यवसाय तथा आध्यात्मिक जीवन में चरम उपलब्धि के भी हेतु थे।"

'प्रबुद्ध भारत' के प्रथम सम्पादक थे चौबीस वर्ष के एक प्रतिभावान् युवक—श्री बी. आर. राजम अय्यर। वे एक ग्रेजुएट थे। अपने कालेज के दिनों में वे अँगरेजी उपन्यास तथा रोमाण्टिक कविताओं में मग्न रहा करते थे। वर्ड्सवर्थ और शेली के काव्य की ओर उनका विशेष रुझान था, जहाँ उन्हें सत्य, बल एवं सौन्दर्य के प्रति सच्ची प्यास देखने को मिली और इसके फलस्वरूप उनके मन में भी आत्मा के गहन अन्तराल में डूब जाने की वैसी ही व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। सम्भवतः यही कारण था कि परवर्ती काल में वे तमिल के सन्त कवि तयुमनवार के काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य में डूब गये थे। तमिल के एक अन्य प्रसिद्ध कवि कम्बन को वे विश्व की महानतम काव्य-प्रतिभाओं में एक मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कमलम्बल' शीर्षक से एक उपन्यास लिखना भी प्रारम्भ किया था, जो 'विवेक चिन्तामणि' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी एक युवा प्रतिभा ने अनेकों का ध्यान आकृष्ट किया होगा और आलासिंगा तथा उनके मित्रों की विवेकानन्दवादी टोली को भी इसी प्रकार उनके बारे में जानकारी मिली होगी। ऐसा भी कहते हैं कि राजम अय्यर ने स्वामीजी के साक्षात् सम्पर्क में आकर उनसे वेदान्त का ज्ञान अर्जित किया था, परन्तु इस तथ्य में सन्देह की गुंजाइश है। Rambles in Vedanta (वेदान्त-विहार) नामक अपने ग्रन्थ में राजम अय्यर ने वैदान्तिक सत्यों के प्रति-

पादनार्थ कुछ सजीव चरित्र प्रस्तुत किये हैं। 'ब्रह्मवादिन्' में राजम अय्यर का एक लेख प्रकाशित होने के बाद ही आलासिंगा आदि ने उन्हें ढूँढ़ निकाला तथा 'प्रबुद्ध भारत' का सम्पादक बना लिया।[८]

'ब्रह्मवादिन्' के समान ही 'प्रबुद्ध भारत' की विवरण-पत्रिका (Prospectus) भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थी, परन्तु बड़े विस्मय की बात यह है कि उसमें इसके मुख्य संयोजक डा० नंजुन्दा राव का नाम नहीं है। 'प्रबुद्ध भारत' की विवरण-पत्रिका पर हस्ताक्षर करने-वाले थे—पी. अय्यास्वामी, एम.ए.,बी.एल.; बी. आर. राजम अय्यर, बी.ए.; जी. जी. नरसिंहाचार्य, बी.ए.; बी. वी. कामेश्वर, बी.ए.। इस तालिका को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों पत्रिकाएँ आपस में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए चल रही थीं।

'प्रबुद्ध भारत' की विवरणिका स्वामीजी के निर्देशा-नुसार लिखी गयी थी, जिसके प्रारम्भ में वेदान्त के विश्व-व्यापी प्रसार के बारे में निम्न उक्ति थी—'वेदान्त शब्द अब मिशिगन झील के तट पर भी उतना ही सुपरिचित हो गया है, जितना कि गंगा के तट पर।' फिर आगे की कुछ पंक्तियों में बताया गया है कि वेदान्त-सिद्धान्तों के प्रचार के बावजूद पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भौतिकता

---

८. "'ब्रह्मवादिन्' में एक लेख पढ़ने के बाद हमें लगा कि इसके लेखन में किसी महान् व्यक्ति का हाथ है, और हम उसे पाने को व्यग्र हो उठे। उससे सम्पर्क होने पर पता चला कि हमें एक अनगढ़ा हीरा मिल गया है।" ('प्रबुद्ध भारत' के जून १८९८ ई० के अंक में प्रकाशित जी.एस.के. के एक लेख से उद्धृत)।

भी फैल रही है। इस भौतिकता से लोहा लेने के उद्देश्य से ही 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन किया जा रहा है। 'ब्रह्मवादिन्' जब पहले से ही इसी उद्देश्य की सिद्धि में लगा हुआ था, तो फिर इस दूसरी पत्रिका की क्या आवश्यकता थी? 'प्रबुद्ध भारत' की विवरणिका इस प्रश्न के उत्तर में कहती है, "यह एक तरह से 'ब्रह्मवादिन्' की परिपूरक होगी और जो कार्य उच्च शिक्षित लोगों के बीच पहले से ही हो रहा है, वही कार्य अब विद्यार्थियों, नवयुवकों तथा अन्य लोगों के बीच करने का प्रयास किया जाएगा। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह पत्रिका हिन्दू धर्म के पुनीत तत्त्वों तथा वेदान्त के सुन्दर एवं उदात्त आदर्शों को यथासम्भव सरल, सहज और रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगी। अन्य सामग्री के अतिरिक्त इसमें महान् सत्यों एवं उच्च आदर्शों को अभिव्यक्त करनेवाली पुराण-कथाएँ, आधुनिक ढंग की कथा-कहानियाँ तथा जटिलताओं से रहित सरल लोकप्रिय पद्धति पर लिखे दार्शनिक विषयों पर छोटे-छोटे लेख रहेंगे। साथ ही जाति-पन्थ एवं राष्ट्रीयता के भेदभाव से रहित, मानवता के वर्तमान एवं भविष्य के प्रकाश-स्तम्भस्वरूप सन्तों एवं भक्तों के जीवन तथा उपदेशों को भी इसमें प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।"

ऐसी घोषणा भी की गयी थी कि इस पत्रिका में स्वामी विवेकानन्द तथा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण लोगों के लेख प्रकाशित होंगे। चूँकि पत्रिका का एकमात्र लक्ष्य था हिन्दू धर्म के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों को लोकप्रिय बनाना, न कि किसी तरह का लाभ कमाना, अतः इसका वार्षिक शुल्क डाक-व्यय सहित केवल डेढ़ रुपये रखा गया था।

'प्रबुद्ध भारत' की विवरणिका का और बाद में उसके स्वयं के प्रकाशन का सारे भारत में हार्दिक स्वागत हुआ। यह स्वागत एक नवीन पत्रिका के प्रकाशन पर एक सामान्य आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र न थी, वरन् यह विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित एक अभिनव आन्दोलन को मान्यता की अभिव्यक्ति थी। बहुत से लोगों ने तो इसे भारतीय पुनर्जागरण का आन्दोलन ही मान लिया था।

बड़ी ही आशा एवं उम्मीद के वातावरण में 'प्रबुद्ध भारत' का जन्म हुआ। इसके प्रथम अंक के 'Ourselves' (हम) शीर्षकवाले सम्पादकीय में इस पत्रिका के लक्ष्य तथा भावी योजनाओं के बारे में 'विवरणिका' की तुलना में कहीं अधिक विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी थी। इस सम्पादकीय में स्वामीजी के डा० नंजुन्दा राव के नाम लिखे पत्र से भी काफी अंश उद्धृत हुआ था। फिर इसमें स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त-आन्दोलन के मूल दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया था। इस सुदीर्घ सम्पादकीय के प्रारम्भिक अंश में समसामयिक भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में इस पत्रिका के प्रादुर्भाव की परिस्थितियों पर चर्चा की गयी थी, जो यहाँ उद्धृत करने योग्य है—

"सभी क्षेत्रों से मिलनेवाली वह सहानुभूति जो हमारी 'विवरणिका' को प्राप्त हुई, वह उत्सुकता जिसके साथ हमारे आन्दोलन का स्वागत हुआ और वह सहायता जिसके लिए कई लोगों ने हमें उदारतापूर्वक वचन दिया है—यह सब यह प्रदर्शित करता है कि ऐसे उपक्रमों के लिए अब समय परिपक्व है। देश में अब आत्मा की स्फूर्ति तथा आध्यात्मिक पौष्टिकता के लिए एक वास्तविक क्षुधा

विद्यमान है; पर कुछ ही वर्षों पूर्व 'प्रबुद्ध भारत' या 'ब्रह्मवादिन्' को निकाल पाना असम्भव होता। वाष्प-इंजन तथा विद्युत् गाड़ियों के अभिनवत्व तथा शोर-शराबे के बीच कई पाश्चात्य 'isms' (वादों) के वायदों का परीक्षण हुआ और क्षण भर के लिए जीवन की समस्या मानो भूल-सी गयी थी; परन्तु दुर्भाग्यवश वाष्प-इंजन तथा विद्युत् गाड़ियाँ इन रहस्यों को सुलझाने के स्थान पर उलझाती ही गयीं। यह बात लोगों की समझ में आ गयी और धर्म तथा आत्मा विषयक सामग्री के लिए एक भूखे सिंह की दहाड़ उठने लगी। विज्ञान ने शीघ्रतापूर्वक अपनी नवीनतम खोजें प्रस्तुत कीं, परन्तु विकासवाद एवं आनुवंशिकता के सिद्धान्त ज्यादा गहराई तक न पैठ सके। अज्ञेयवाद ने अपना उदासीनता का दर्शन सामने रखा, परन्तु इस तरह का कितना भी अफीम-सेवन दिल के बुखार को दूर करने में अक्षम था। ईसाई मिशनरियों ने अपना धर्ममत सामने रखा, परन्तु भारत उस कोट की तुलना में काफी बड़ा हो चुका था, अतः एक पन्थ के रूप में वह भी यहाँ सफल नहीं हुआ।"

पत्रिका के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द ने इसके लिए अपना आशीष भेजा तथा साथ ही मुखपृष्ठ के डिजाइन पर अपनी समालोचना भी। पहले भी उन्होंने 'ब्रह्मवादिन्' के मुखपृष्ठ की आलोचना की थी, परन्तु इस बार की आलोचना कहीं अधिक विस्तृत एवं कठोर थी। 'प्रबुद्ध भारत' के प्रवेशांक के मुखपृष्ट पर अनेक विचारों को अभिव्यक्ति देने की दृष्टि से एक भड़कीला चित्र छपा था। संयोजकों ने पत्रिका पर बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं और इस विषय में वे बड़े संवेदनशील भी थे। एक वेदान्त-

पत्रिका के मुखपृष्ठ पर ऐसा भड़कीला चित्र देखकर भी उसकी प्रशंसा करनेवाले शिक्षितों का अभाव न था।[९]

एक वर्ष के भीतर ही 'प्रबुद्ध भारत' को आशातीत सफलता मिली। वर्ष के अन्त में प्रकाशित 'सिंहावलोकन' इसके युवा सम्पादक ने थोड़े शब्दाडम्बर के साथ ही लिखा था, जो उसके केवल पचीस वर्ष की आयु को देखते हुए क्षम्य प्रतीत होता है। सम्पादक ने स्वीकार किया था कि इन सारी सफलताओं के मूल में स्वामीजी का आशी-

---

९. पूना के 'मराठा' ने लिखा था—"मुखपृष्ठ मानो सजीव बन पड़ा है।" इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे ही और भी अनेक लोगों ने प्रशंसा की होगी। इससे एक ओर यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत में कला-मूल्यांकन का स्तर काफी नीचा था और दूसरी ओर वह स्वामीजी का उदात्त सौन्दर्य-प्रेम प्रदर्शित करता है। स्वामीजी इस डिजाइन के घटिया स्तर को देख और इसके बारे में संयोजकों की उच्च धारणा देखकर बड़े निराश हुए थे। अपने १४ जुलाई १८९६ के पत्र में उन्होंने लिखा—"एक बात पर मुझे अपना मत व्यक्त करना है, वह यह कि पत्र का मुखपृष्ठ एकदम गँवारू, देखने में नितान्त रद्दी तथा भद्दा है। यदि सम्भव हो तो इसे बदल दो। इसे भावव्यंजक तथा साथ ही सरल बनाओ—इसमें मानव-चित्र बिल्कुल नहीं होने चाहिए। 'वटवृक्ष' कतई प्रबुद्ध होने का चिह्न नहीं है और न पहाड़, न सन्त ही, यूरोपीय दम्पति भी नहीं। 'कमल' ही पुनरभ्युत्थान का प्रतीक है।

"ललित कला में हम लोग बहुत ही पिछड़े हुए हैं, खासकर 'चित्रकला' में। उदाहरणस्वरूप, वन में वसन्त के पुनरागमन का एक छोटा सा दृश्य बनाओ—नवपल्लव तथा कलिकाएँ प्रस्फुटित

र्वाद ही कारण रहा है। फिर उसने अपने सहयोगियों की 'ध्येय के प्रति निष्ठा तथा हृदय की शुद्धता' का भी उल्लेख किया था। बाकी का 'सिंहावलोकन' पत्रिका के संयोजकों के निःस्वार्थ उपक्रम के बारे में भावुकतापूर्ण उद्‌गारों से परिपूर्ण था। यद्यपि इसका कुछ अंश अतिशयोक्ति जैसा प्रतीत हो सकता है, परन्तु जगत् को झकझोरकर रख देनेवाले कार्यों के मूल में आदर्श के प्रति ऐसी ही निष्ठा तथा आत्मविश्वास का हाथ रहा करता है। उक्त 'सिंहावलोकन' के कुछ अंश निम्नलिखित हैं—

"प्रस्तुत अंक के साथ, 'प्रबुद्ध भारत' का पहला वर्ष पूर्ण होता है और यह अवसर है कि हम अपने से पूछें कि हमने इस दौरान क्या सीखा? इस आत्मविश्लेषण से पता चलता है कि हमने काफी कुछ सीखा है। वस्तुतः

हो रही हों। धीरे-धीरे आगे बढ़ो, सैकड़ों भाव हैं जिन्हें प्रकाश में लाया जा सकता है।" ('विवेकानन्द साहित्य', खण्ड५, पृ० ३५६)।

केवल इसी एक पत्र में नहीं, बल्कि बाद में लिखे और भी कई पत्रों में स्वामीजी ने इस विषय पर अपना मत व्यक्त किया। इस मुखपृष्ठ पर उच्च धारणा रखनेवाले उत्साही संयोजकगण सम्भवतः आहत हुए थे और स्वामीजी इस बात को समझकर थोड़े सावधान हो गये कि इस गौण वस्तु की समालोचना से कहीं वे लोग मूल वस्तु (पत्रिका) के प्रति ही निरुत्साही न हो जाएँ। इसलिए २६ अगस्त १८९६ ई. के पत्र में उन्होंने उन लोगों को पुनः उत्साहित करते हुए लिखा—"वीरता से आगे बढ़ो—डिजाइन और दूसरी छोटी-छोटी बातों की चिन्ता न करो—'घोड़े के साथ लगाम भी मिल जाएगी'।" (वही, पृष्ठ ३७१)।

इस संक्षिप्त काल का इतिहास हमारे लिए महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं से भरा था। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज जो हमें सीखने को मिली और जिसका हम अपने जीवन के आखिरी दम तक पालन करना चाहेंगे, वह यह है कि ध्येय के प्रति निष्ठा तथा हृदय की शुद्धता इस कलिकाल में भी अद्‌भुत फल देनेवाली है। इस पत्रिका को प्रारम्भ करते समय हम ऐसी बड़ी महत्त्वाकांक्षा लेकर नहीं चले थे कि हमें जगत् को सुधारना है, आदि आदि। हम तो केवल अपने ही जीवन का विकास करना चाहते थे और हमारा यह दृढ़ विश्वास था कि जो चीज हमारे लिए अच्छी है, वह कुछ अन्य लोगों के लिए भी उपयोगी हो सकती है। फिर हमने यह काम नाम, धन आदि की इच्छा से प्रारम्भ नहीं किया था। हमारे मन में इस पत्रिका को शुरू करने का विचार मानो भगवदिच्छा से ही आया, और भविष्य में इसकी चाहे जो नियति हो, हम सदा-सर्वदा ईश्वर के प्रति कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने हमें शुद्ध हृदय के साथ इस कार्य में प्रवेश करने का अवसर दिया। हम राजसिक आत्मविश्वास तथा तामसिक महत्त्वाकांक्षा दोनों से ही पूर्णतया मुक्त थे। ऐसी चिरस्मरणीय आनन्द-पूर्ण मन:स्थिति में हमने जहाँ से चाहिए अनुमति लेकर कार्य प्रारम्भ किया। हमें जो भी सफलता मिली है, वह हमें प्राप्त आशीर्वाद तथा हमारी हार्दिक शुद्धता के कारण ही मिली है और वह सफलता अल्प नहीं है।"

फिर पत्रिका की अप्रत्याशित सफलता के बारे में 'सिंहावलोकन' में लिखा गया था—"प्रारम्भ में हमारे पास मात्र १,५०० ग्राहक थे और प्रति मास यह संख्या नियमित रूप से बढ़ती गयी, जो अब ४,५०० तक पहुँच

चुकी है। इस प्रकार अब हमारी यह पत्रिका सम्पूर्ण भारत में सर्वाधिक प्रसारित मासिक बन चुकी है।"

तदुपरान्त 'सिहावलोकन' के अन्तिम भाग में पत्रिका की भावी योजनाओं से अवगत कराने का प्रयास हुआ था— "यह पत्रिका इस समय जैसी है उससे इसे और भी रोचक, ज्ञानवर्धक तथा पठनीय बनाने की दिशा में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी जाएगी। वेदान्त के सुप्रसिद्ध लेखकों का सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की जा रही है और ईश्वर की इच्छा हुई तो पत्रिका में हर दृष्टि से सुधार नजर आएगा। हमें तो सिर्फ इतना ही कहना है कि फल चाहे जैसा भी मिले, हम तो उत्साह एवं लगन के साथ कर्म किये जाएँगे। 'कर्म मात्र में ही हमारा अधिकार है, उसके फल में नहीं।' "

इस शानदार शुरुआत के केवल दो वर्ष बाद ही, जबकि यह पत्रिका अपनी सफलता के शिखर पर थी, इसके जून १८९८ ई. के अंक में एक सम्पादकीय प्रकाशित हुआ—'Farewel'!! (अलविदा)। एक अत्यन्त आशा-भरी पत्रिका का यह अत्यन्त आकस्मिक अन्त था, मानो भरी दोपहरी में ही अन्धकार फैल गया हो।

पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया, पर ऐसा क्या हुआ? क्या आर्थिक कठिनाइयों के कारण हुआ? नहीं। इसके अन्तिम सम्पादकीय में यह स्पष्ट रूप से बताया गया था कि 'वित्तीय दृष्टि से यह पत्रिका पूर्णतः सफल थी' और साथ ही यह जानकारी भी दी गयी थी कि यह अपने काल के भारत की सर्वाधिक प्रसार-संख्या वाली पत्रिका थी। इसके अचानक बन्द हो जाने का एकमात्र

कारण था इसके युवा सम्पादक का आकस्मिक देहावसान, जो वस्तुतः इस पत्रिका के प्राणस्वरूप थे।

वह 'अलविदा' लेख इन पंक्तियों के साथ प्रारम्भ हुआ था—"हमें अपने ग्राहकों को बड़े खेद के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि हम इस अंक के साथ ही इस पत्रिका का प्रकाशन बन्द करने को बाध्य हुए हैं, क्योंकि हमारे सम्पादक श्री बी. आर. राजम अय्यर के असामयिक निधन से हुई क्षति की पूर्ति कर पाना सम्भव नहीं हो सका। कुछ लेखों एवं उद्धरणों के अतिरिक्त बाकी सारे लेख—टी. सी. नटराजन, एम. रंगनाथ शास्त्री, एक बैरागी, कोई-नहीं-जानता-कौन आदि छद्म नामों से—वे ही लिखा करते थे।"

परन्तु 'प्रबुद्ध भारत' सदा के लिए अन्तर्धान नहीं हो गया। मात्र दो महीनों के भीतर ही उसका पुनर्जन्म हुआ और सद्यःस्थापित संस्था रामकृष्ण मिशन ने उसका उत्तरदायित्व सँभाल लिया।

रामकृष्ण मिशन द्वारा इस पत्रिका का पुनः प्रकाशन आरम्भ करने की आवश्यकता का अनुभव करने के कई कारण थे। प्रथमतः, इस अति लोकप्रिय पत्रिका का बन्द हो जाना स्वामीजी के लिए बड़ा पीड़ादायी था, जिनकी कई भावी योजनाएँ इसी पत्रिका के इर्द-गिर्द केन्द्रित थीं। द्वितीयतः, इसका प्रकाशन बन्द हो जाना वेदान्त-आन्दोलन की पराजय का सूचक था और आन्दोलन के प्रथम चरण में ही ऐसी पराजय को स्वीकार कर लेना घोर अनर्थकर सिद्ध होता। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन को एक अपने मुखपत्र की भी आवश्यकता थी। 'ब्रह्मवादिन्' और 'प्रबुद्ध भारत' दोनों ही स्वामी विवेकानन्द की

प्रत्यक्ष सहायता एवं प्रेरणा से प्रारम्भ हुए थे और उन्हीं का समर्थन भी करते थे, परन्तु वे स्वामीजी के संगठन रामकृष्ण मिशन के पत्र न थे। उस पर स्वत्वाधिकार दूसरों का था। (स्वामीजी ने स्वत्वाधिकारी बनना अस्वीकार कर दिया था)। फिर जहाँ तक उनकी नीतियों का प्रश्न था, दोनों पत्रिकाएँ अधिकांशतः स्वामीजी के विचारों का ही अनुसरण करती थीं, परन्तु उन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था कि वे उन्हीं मार्गों पर सदा-सर्वदा चलती रहें। जब तक स्वामीजी ने स्वयं किसी संस्था की स्थापना न की थी, तब तक उनके भक्तों एवं प्रशंसकों द्वारा परिचालित ये पत्रिकाएँ उपयोगी हो सकती थीं, परन्तु रामकृष्ण संघ की स्थापना के बाद से उसके लिए अपनी पत्रिका का होना एक अनिवार्य आवश्यकता थी। 'प्रबुद्ध भारत' के सहसा बन्द हो जाने से मिशन को इसे अपने मुखपत्र के रूप में पुनर्जीवित करने का अवसर मिल गया। व्यक्तिगत रूप से मेरा तो विश्वास है कि यदि 'प्रबुद्ध भारत' बन्द न हुआ होता, तो रामकृष्ण मिशन ने निश्चित रूप से अपनी एक नयी पत्रिका निकाली होती।

इस प्रसंग में हम और भी एक महत्त्वपूर्ण सूचना प्रस्तुत कर सकते हैं, और वह यह है कि राजम अय्यर क सम्पादन-काल के अन्तिम पर्व में लिखे गये सम्पादकीय प्रबन्ध स्वामीजी के विचारों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे। इन दिनों श्री अय्यर किन्हीं नये प्रभावों में आकर वेदान्त की कुछ अलग ढंग की ही व्याख्या करने लगे थे, और वेदान्त की इस अद्भुत व्याख्या ने 'प्रबुद्ध भारत' के संयोजकों को एकदम मुग्ध कर लिया था। पत्रिका को बन्द करने के कारण गिनाते हुए यह भी कहा गया था

कि ऐसा प्रतिभावान् कोई दूसरा नहीं मिला, जो वेदान्त की वैसी व्याख्या कर पाता। 'हमारे दिवंगत सम्पादक' शीर्षक से लिखा लेख सम्भवत: इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डाल सकेगा—

"जो लोग पंक्तियों के बीच का गूढ़ मर्मार्थ समझ पाने में सक्षम थे, उन्हें यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रबुद्ध भारत' वेदान्त की एक अलग तरह की ही व्याख्या करती रही है और इस दृष्टि से इस पत्रिका का अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य था।...हमारा विश्वास है कि सम्पूर्ण भारत तथा विदेशों में भी इस पत्रिका की असाधारण लोकप्रियता का कारण मात्र इसका वेदान्त-प्रचार नहीं वरन् इसके द्वारा वेदान्त की मौलिक, सुन्दर तथा अरहस्यवादी व्याख्या की शैली थी। और चूंकि हमारे इन दिवंगत सन्त-सम्पादक की जगह ले सके ऐसा कोई उचित व्यक्ति हमारी जानकारी में नहीं है, हम इस पत्रिका को चला पाने में असमर्थ हैं; अन्य कोई भी पत्रिका इस प्रकार की परिस्थितियों में जारी रह सकती थी।"

अगस्त १८९८ ई. से 'प्रबुद्ध भारत' के अगले चरण का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इस अंक के सम्पादकीय में विनम्र परन्तु दृढ़ भाषा में बताया गया था कि इसकी पहले की नीतियों तथा अब अपनायी गयी नवीन नीतियों में क्या अन्तर है। इसमें पहले के मुखपृष्ठ डिजाइन की समालोचना भी थी। सम्पादकीय में बताया गया था कि अब वे दिन बीत चुके, जब 'गोरा यूरोपीय आदमी और उसकी गोरी पत्नी' भारतीय वनों में विचरण करते हुए वटवृक्ष के नीचे किसी योगी के चरणों में बैठकर अमृतत्व का सन्देश सुना करते। 'प्रबुद्ध भारत' के प्रवेशांक से ही

उसके मुखपृष्ठ पर यही भाव दर्शाने का प्रयास हुआ था, जो महत्त्व की दृष्टि से अप्रासंगिक हो गया था और काल-दोष का परिचायक था ।...

उसी दृष्टि से इस पत्रिका में एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी लाया गया । पहले चरण में इसका आदर्श-वाक्य था—'ब्रह्म को जाननेवाला सर्वोच्च की उपलब्धि करता है' ('ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—तैत्तिरीय उपनिषद्), अब उसकी जगह एक दूसरा ही उपनिषद्-वाक्य अपनाया गया, जिसका अर्थ था—'उठो ! जागो ! और लक्ष्य तक पहुँचे बिना रुको मत' ('उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'—कठोपनिषद्) ।

'प्रबुद्ध भारत' के इस द्वितीय चरण से एक अन्य नाम भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था और वह था अद्वैत आश्रम का; और अब भी वह उसी प्रकार जुड़ा हुआ है । काफी काल से स्वामीजी हिमालय की गोद में एक ऐसा आश्रम बनाने की सोच रहे थे, जो एकमात्र अद्वैत के लिए ही समर्पित होगा, जहाँ मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड को कोई स्थान नहीं दिया जाएगा और जहाँ प्राच्य एवं पाश्चात्य के वेदान्त-प्रेमी हिमाद्रि की चिरहिममण्डित शिखरों की उदात्त महिमा के समक्ष समवेत होकर अगोचर ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन करेंगे । मध्यम वय के कैप्टेन सेवियर तथा उनकी पत्नी ने स्वामीजी की इस परिकल्पना को रूपायित करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लिया । लन्दन में जब इस अँगरेज दम्पति ने पहली बार तेंतीस वर्ष के इस युवा संन्यासी का गुरु-गम्भीर वाणी में सत्य एवं अनन्त जीवन का उपदेश सुना, तो उन्हें लगा कि वे जीवन भर इन्हीं आचार्य एवं इसी जीवन-दर्शन की

खोज करते रहे थे। उन्होंने इस सत्य के अनुसरण को अपने जीवन का एकमात्र कार्य मान लिया। कैप्टेन जे. एच. सेवियर तथा श्रीमती चारलाट एलिजाबेथ सेवियर स्वामी विवेकानन्द के अनुगामी बन गये और अन्त में उनके साथ भारत भी आ पहुँचे। यहाँ आकर वे लोग स्वामीजी के सपनों का 'अद्वैत आश्रम' बनाने के लिए एक उपयुक्त स्थान की खोज में लग गये। इतनी जल्दी एक उपयुक्त स्थान पा लेना सम्भव नहीं था, अतः सेवियर दम्पति यथाशीघ्र एक ऐसा आश्रय-स्थान पा लेना चाहते थे, जहाँ से जितनी जल्दी सम्भव हो, 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन आरम्भ हो सके।

इस प्रकार स्वामीजी का हिमालय-आश्रम और 'प्रबुद्ध भारत' कार्यालय एक दूसरे से अभिन्न रूप से सम्बन्धित एवं जुड़े हुए थे और यह संयोजन संयोगवश नहीं हुआ था, वरन् स्वामीजी ने इसे सोच-समझकर ही कराया था।

१७ जुलाई १८९८ ई. को स्वामीजी ने श्रीनगर से स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम एक पत्र में लिखा था—"अल्मोड़ा से पत्रिका निकालने पर बहुत कुछ कार्य अग्रसर हो सकता है; क्योंकि इससे बेचारे सेवियर को भी एक कार्य मिल जाएगा तथा अल्मोड़ा के लोगों को भी कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा।..."

स्वामीजी को भलीभाँति विदित था कि क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ चला जाता है। अद्वैत आश्रम में सर्वोच्च वेदान्त की साधना होगी, परन्तु वह ज्ञान कहीं अनुभूति के मौन आनन्द तक ही न सीमित रह जाय, उसे सत्य के प्रचार में भी सक्रिय होना होगा।

१८९८ ई. के मई तथा जून महीनों में स्वामीजी ने कैप्टेन तथा अन्य लोगों के साथ अल्मोड़ा में ही किराये के एक भवन 'टामसन हाउस' में निवास किया और यह भवन स्वामीजी का प्रथम हिमालय-मठ तथा 'प्रबुद्ध भारत' के द्वितीय चरण का प्रथम कार्यालय हुआ। कैप्टेन सेवियर ने एक हस्तचालित प्रेस की व्यवस्था की और इसी पर छपकर अगस्त १८९८ ई. में 'प्रबुद्ध भारत' का प्रथम अंक निकला। स्वामी स्वरूपानन्द इसके सम्पादक तथा कैप्टेन सेवियर इसके व्यवस्थापक हुए। इस अंक में स्वामीजी की दो कविताएँ छपी थीं, जिनमें एक थी 'To The Awakened India' (प्रबुद्ध भारत के प्रति) और दूसरी थी 'Requiescat in Pace' (उसे शान्ति में विश्राम मिले)। इनमें से पहली कविता, स्वयं प्रबोधक के ही शब्दों में, 'प्रबुद्ध भारत' को आह्वान थी और दूसरी कविता भारत की सेवा में अपना प्राण विसर्जित कर देने-वाले महान् अँगरेज जे. जे. गुडविन की आत्मा की चिरशान्ति के लिए प्रार्थना थी। अभिनव भारत का उदय होना था, परन्तु इसके लिए अनेक सदात्माओं को उद्बोधित करने की आवश्यकता थी—और इन दो कविताओं का मानो यही आशय था।

इन दिनों स्वामीजी कितनी गम्भीरतापूर्वक 'प्रबुद्ध भारत' के विचारों में डूबे हुए थे, इसका विवरण देते हुए भगिनी निवेदिता अपने संस्मरणों में लिखती हैं—"इस समय 'प्रबुद्ध भारत' का मद्रास से सद्य:स्थापित मायावती के आश्रम में स्थानान्तरित होने का विचार ही हमारे मन पर छाया हुआ था। स्वामीजी के हृदय में सर्वदा ही इस पत्रिका के लिए एक विशेष स्नेह था, जैसा कि उनके

द्वारा प्रदत्त इसका सुन्दर नाम ही प्रदर्शित करता है। फिर वे अपनी पत्रिकाएँ निकालने को सदा उत्सुक रहते थे। आधुनिक भारत के शिक्षण-कार्य में पत्रिका का महत्त्व उन्हें भलीभाँति विदित था और उन्हें यह भी बोध हो रहा था कि अपने गुरुदेव का सन्देश फैलाने के कार्य में प्रचार तथा सेवा-कार्य के साथ ही क्यों न इस उपाय का भी सहारा लिया जाय। अतः दिन पर दिन वे जैसे अपने विविध केन्द्रों के बारे में वैसे ही अपनी इन पत्रिकाओं के भविष्य के बारे में भी विचारमग्न रहते। दिन पर दिन वे स्वामी स्वरूपानन्द के नये सम्पादकत्व में निकलने-वाले प्रथम अंक के बारे में चर्चा करते; और एक दिन दोपहर को जब हम लोग एक साथ बैठे थे, तो वे एक कागज लेकर आये और बोले कि मैंने एक पत्र-जैसा लिखने का प्रयास किया था, पर वह ऐसा हो गया—

'प्रबुद्ध भारत के प्रति'

जागो फिर एक बार !
यह तो केवल निद्रा थी, मृत्यु नहीं थी,
नवजीवन पाने के लिए,
कमल नयनों के विराम के लिए
उन्मुक्त साक्षात्कार के लिए।...
फिर बढ़ो,
कोमल चरण ऐसे धरो
कि एक रज-कण की भी शान्ति भंग न हो
जो सड़क पर, नीचे पड़ा है।
सबल, सुदृढ़, आनन्दमय, निर्भय और मुक्त
जागो, बढ़े चलो और उदात्त स्वर में बोलो ! ..

और संसार से कहो—

जागो, उठो, सपनों में मत खोये रहो,
यह सपनों की धरती है, जहाँ कर्म
विचारों की सूत्रहीन मालाएँ गूँथता है,
वे फूल, जो मधुर होते हैं अथवा विषाक्त,
जिनकी न जड़ें हैं, न तने, जो शून्य में उपजते हैं,
जिन्हें सत्य आदि शून्य में ही विलीन कर देता है।
साहसी बनो और सत्य के दर्शन करो,
उससे तादात्म्य स्थापित करो,
छायाभासों को शान्त होने दो;
यदि सपने ही देखना चाहो तो
शाश्वत प्रेम और निष्काम सेवाओं के ही सपने देखो !"[१०]

भगिनी निवेदिता की सम्पूर्ण ग्रन्थावली (अँगरेजी) के प्रथम खण्ड में संकलित परिशिष्ट से हमें यह भी ज्ञात होता है कि एक बार तो स्वामीजी ने निवेदिता को ही 'प्रबुद्ध भारत' के लिए एक कर्मी के रूप में भेजने का विचार किया था। निवेदिता ने लिखा है—"'प्रबुद्ध भारत' का पहला अंक अभी अभी आया है और सम्पादक के

---

१०. Notes on Some Wanderings with the Swami Vivekananda; Chapter VII; विस्तार के भय से हमने मूल अँगरेजी कविता के हिन्दी अनुवाद का कुछ ही अंश उद्धृत किया है, पूरी कविता के लिए देखें—'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड १०, पृष्ठ १८९-१९२। (अनु०)

सहायतार्थ निवेदिता को अलमोड़ा भेजने के बारे में थोड़ा विचार-विमर्श हुआ।"

स्वामीजी के हिमालय के आश्रम के लिए उपयुक्त स्थान के रूप में अल्मोड़ा का कैंटॉनमेण्ट कस्बा कैप्टेन सेवियर को सन्तुष्ट न कर सका। वे एक सुन्दर स्थान की खोज में थे और अन्ततः वह मिल भी गया। 'संकोची कैप्टेन तथा उनकी कल्पनाशील सहधर्मिणी' इस पर बड़े हर्षित हुए। अल्मोड़ा से पचास मील की दूरी पर पूर्णतः वीरान में एक पूरी पहाड़ी ही उपलब्ध थी। यह जगह भारतीय सेना के एक अवकाशप्राप्त जनरल मि. मैकग्रेगर के चाय के उद्यान का एक अंश थी।

सात हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित यह स्थान और इसके भी कई सौ फीट ऊपर एक छोटा छिछला पर सुन्दर सा तालाब—कुल मिलाकर यह एक अत्यन्त रमणीय जगह थी, जहाँ से चिरतुषारमण्डित हिमालय की लम्बी श्रृंखला के दर्शन होते थे और जहाँ आकाश से होड़ करते लम्बे और सुदृढ़ देवदार वृक्षों के मौन निःश्वास से युक्त गहन नीरवता चारों ओर व्याप्त थी। (निकटतम रेलवे स्टेशन वहाँ से केवल ६० मील की दूरी पर था।) १९ मार्च १८९९ ई. को श्रीरामकृष्ण के पुनीत जन्म-दिवस पर इसी जगह पर अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई और 'माईपट' नाम से पूर्वपरिचित इस स्थान को 'मायावती' का नया नाम मिला।

मायावती में अद्वैत आश्रम तथा 'प्रबुद्ध भारत' दोनों को ही निवास मिला। पत्रिका के मुद्रण के लिए वहाँ एक छोटे प्रेस की व्यवस्था हुई और कुछ कर्मचारी भी लाये गये। स्वामी स्वरूपानन्द अद्वैत आश्रम के प्रथम

अध्यक्ष हुए। इस आश्रम के परिचालन का दायित्व उन पर तथा इसके दोनों संस्थापकों कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर पर था। कैप्टेन 'प्रबुद्ध भारत' के भी व्यवस्थापक थे।

कहना न होगा कि नागरी सुविधाओं से दूर उस निर्जन पर्वतीय परिवेश में एक पत्रिका चलाना अपने आप में कार्य की अपेक्षा साधना ही अधिक थी। 'प्रबुद्ध भारत' से सम्बन्धित सारे कार्य सर्वोच्च ब्रह्मतत्त्व पर चिन्तन तथा उससे प्राप्त आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रसार के रूप में परिणत हो गये। स्वामीजी बड़े ही हर्षित थे। अगस्त १९०० ई. में उन्होंने न्यूयार्क से अद्वैत आश्रम के एक संन्यासी को लिखा—"स्वरूप से कहना कि मुझे खुशी है कि वह पत्रिका का संचालन कर रहा है। वह बहुत अच्छा कार्य कर रहा है।"

स्वामीजी का स्वरूपानन्द पर बड़ा ही स्नेह एवं विश्वास था। रामकृष्ण संघ में स्वरूपानन्द के प्रवेश लेने के दिन उन्होंने कहा था, "आज हमने एक रत्न की उपलब्धि की है।" इस उक्ति से स्वरूपानन्द की आध्यात्मिकता के बारे में स्वामीजी की गहन अन्तर्दृष्टि का बोध होता है। २९ मार्च १८९८ ई. को स्वरूपानन्द की संन्यास-दीक्षा हुई और उसी दिन से स्वामीजी ने मिशन के एक मुखपत्र के बारे में सोचना आरम्भ कर दिया था, अतः स्वाभाविक ही था कि स्वामीजी इस कार्य में स्वरूपानन्द की उपयोगिता के बारे में सोचते।

संन्यास के पूर्व स्वरूपानन्द अजयहरि वन्द्योपाध्याय के नाम से परिचित थे। तब वे श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी के साथ 'डॉन' पत्रिका के सम्पादक के रूप में कार्य कर

रहे थे। इसके अतिरिक्त अजयहरि एक पक्के अद्वैत-वादी थे। स्वामीजी एक ऐसे व्यक्ति की खोज में थे, जो अद्वैत आश्रम की व्यवस्था कर सके और साथ ही अद्वैतवादी सेवियर-दम्पति की सहयोगिता में अद्वैत-दर्शन के सच्चे भाव में 'प्रबुद्ध भारत' को चला सके। स्वरूपा-नन्द में इन दोनों आवश्यकताओं को पूरा करने की उपयुक्तता एवं क्षमता थी।[११]

जिन महानुभाव ने अद्वैत आश्रम के स्थापनार्थ अपना धन एवं श्रम लगा दिया था, अब इसी कार्य में उन्होंने अपना जीवन भी बलिदान कर दिया। २८

११. स्वरूपानन्द अधिक दिन जीवित नहीं रहे। अपने गुरुदेव के देहत्याग के कुछ वर्ष बाद ही वे भी ब्रह्मलीन हो गये। इस पर 'मैसूर हेराल्ड' के २८ अगस्त १९०६ के अंक में जो सूचना छपी थी, यहाँ हम उसी का अनुवाद प्रस्तुत करते हैं—"देहावसान के समय स्वामी (स्वरूपानन्द) ३८ वर्ष के थे। ८ वर्ष पूर्व उन्होंने संन्यास लिया था और उसी समय वे 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक हो गये। पहले वे 'डॉन' पत्रिका के भी सम्पादक रह चुके थे। शंकराचार्य की कृतियों का उन्होंने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और अपनी संस्कृत तथा अँगरेजी की विद्वत्ता के लिए वे सुप्रसिद्ध थे।"

'प्रबुद्ध भारत' (जुलाई १९०६ ई.) में प्रकाशित शोक-संवाद में निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—"उन्हीं के सुयोग्य सम्पादन में 'प्रबुद्ध भारत' अपनी वर्तमान लोकप्रियता को प्राप्त कर सका है। वे उन उच्च आदर्शों को रूपायित करने के आकांक्षी थे, जो सर्वोच्च एवं शुद्धतम कामनाओं से तथा अद्वैततत्त्व में अदम्य श्रद्धा से ही निःसृत हो सकते थे।"

अक्तूबर १९०० के दिन कैप्टेन सेवियर ने मायावती आश्रम में ही अपनी अन्तिम साँस ली। वस्तुतः वहाँ उचित चिकित्सा की व्यवस्था कर पाना सम्भव ही न था और उनकी असहाय पत्नी के देखते ही देखते श्रीयुत सेवियर चल बसे। उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार आश्रम के थोड़ा नीचे बहनेवाली एक छोटी सी सरिता के किनारे उनके शरीर का पारम्परिक हिन्दू रीति से दाह-संस्कार किया गया। जिस स्थल पर उनकी चिताग्नि की अन्तिम चिनगारी बुझी थी, वहाँ मनोरम वृक्षों और लताओं के बीच सुन्दरता एवं शान्ति के साथ ही वहाँ की प्रकृति में चारों तरफ व्याप्त नीरवता का अब भी बोध हुआ करता है; तथापि जैसा कि अपने प्रिय सेवियर के बारे में स्वामीजी ने बाद में कहा था—जिस आदर्श के लिए वे जिये और शहीद हो गये, उसकी अग्नि-शिखा अब भी 'प्रबुद्ध भारत' के पृष्ठों को आलोकित कर रही है। अद्वैतवादी कैप्टेन की चिता के स्थान पर कोई स्मारक नहीं बना है, परन्तु हम भलीभाँति जानते हैं कि अद्वैत आश्रम और 'प्रबुद्ध भारत' दोनों ही इस महान् जीवन के सर्वोत्तम स्मारक के रूप में अब भी कार्यरत हैं।

कैप्टेन सेवियर के देहावसान के बाद भी श्रीमती सेवियर मायावती आश्रम में ही निवास करती रहीं, और अपने वैधव्य जीवन के परवर्ती सत्रह वर्ष उन्होंने हिमालय के उदात्त परिवेश में ही बिताये। आश्रम में सभी उन्हें 'माताजी' कहकर पुकारते थे और आस-पास के गाँववालों के लिए वे 'देवी' थीं। एक बार जब किसी ने उनसे पूछा कि आप ऐसे निर्जन में अपना समय कैसे बिता पाती हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया था, "मैं

स्वामीजी का चिन्तन किया करती हूँ।"

और स्वामीजी भी उन लोगों का कितना ध्यान रखते थे। कैप्टेन सेवियर के देहावसान के समय वे विदेश में थे, पर पता नहीं क्यों उनका मन अचानक चिन्तातुर हो उठा और वे तुरन्त ही भारत को लौट पड़े। भारत पहुँचते ही उन्हें कैप्टेन सेवियर के स्वर्गवास का दुःखद संवाद मिला। स्वामीजी का स्वास्थ्य तब ठीक न था, जनवरी की ठण्ड तथा हिमालय में पड़ रही बर्फ के बीच यात्रा की कठिनाइयों तथा खतरों की परवाह न करते हुए वे तुरन्त मायावती चल पड़े। अद्वैत आश्रम का यही परम सौभाग्य है कि उसे स्वामीजी का असीम स्नेह मिला है।

अद्वैत आश्रम तथा 'प्रबुद्ध भारत' स्वामीजी के जीवन के दो अविस्मरणीय अध्याय हैं। मायावती में ही उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना अन्तिम कार्य किया। स्वामीजी ने अपने तीन अन्तिम लेख वहीं लिखे थे। वे थे—'आर्य और तमिल', 'सामाजिक सम्मेलन भाषण', और 'थियोसॉफी पर कुछ स्फुट विचार'।[१२] ये लेख 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित हुए, पर उनके साथ स्वामीजी का नाम नहीं था। ये लेख विषय तथा शैली की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण थे और आधुनिकतम मानदण्ड से भी पत्रकारिता के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। प्रथमतः, ये लेख सामयिक थे: 'सामाजिक सम्मेलन भाषण' रानडे द्वारा हाल में ही प्रदत्त एक व्याख्यान के सन्दर्भ में लिखा गया था और 'थियोसॉफी पर कुछ स्फुट विचार' थियोसॉफिकल सोसायटी की २५ वीं वर्षगाँठ के अवसर

१२. इन लेखों के हिन्दी अनुवाद 'विवेकानन्द साहित्य' के नवम खण्ड में संकलित हुए हैं। (अनु०)

पर टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत किया गया था; द्वितीयतः, ये सूक्ष्म व्यंग्य से परिपूर्ण हैं, जिसके फलस्वरूप पाठक का ध्यान तुरन्त ही आकृष्ट हो जाता है और विरोधी का भाव चकनाचूर हो जाता है। इनकी रचना-शैली पैनी, सशक्त पर साथ ही भावपूर्ण है। एक प्रथम श्रेणी का पत्रकार ऐसे लेख लिख पाने पर अपने को धन्य मानेगा। पर स्वामीजी के लेखन के बारे में इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं, क्योंकि इन पृष्ठों में ऋषि विवेकानन्द की स्पष्ट उपस्थिति सदैव विद्यमान है। एकमात्र ऋषि की दृष्टि ही सुदीर्घ राष्ट्रीय जीवन को सम्पूर्ण रूप से देखकर उसके पुनर्जीवन हेतु मार्गदर्शन कर पाने में सक्षम है। स्वामीजी के लेखन की पृष्ठभूमि से सदा ही उस निःस्वार्थ ऋषि की झलक मिल जाती है, जो बिना किसी समझौते के सत्य का प्रतिपादन करता है और साथ ही सबके प्रति स्नेह का विस्तार भी।

मायावती में ही स्वामीजी की पत्रकारिता की विद्युन्माला अन्तिम बार चमकी थी।

O

"उन्हें (स्वामी विवेकानन्द को) दूसरे स्थान पर सोचना एक असम्भव बात थी। जहाँ भी वे गये, सर्वत्र प्रथम ही रहे...। जो भी उन्हें देखता, प्रथम दृष्टि में ही अनुभव करता कि ये नेता हैं, ईश्वर द्वारा अभिषिक्त हैं, लोगों पर शासन करने की इन पर मुहर लगी है। हिमालय के रास्ते एक अनजान यात्री उन्हें देख विस्मय से ठिठक गया और चिल्ला उठा—'शिव'..."

—रोमां रोलां

संन्यासी और सेवाधर्म

स्वामी अखण्डानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। वे रामकृष्ण संघ के तीसरे महाध्यक्ष रहे। पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में सारगाछी ग्राम में स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से उन्होंने एक अनाथाश्रम स्थापित किया, जो रामकृष्ण मिशन के सेवा-कार्यों का शुभारम्भ था। उनका प्रस्तुत लेख 'उद्बोधन' बँगला मासिक से साभार गृहीत और अनुवादित है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। —स०)

बहुत से लोग सोचते हैं और हमसे कह भी बैठते हैं, "आप लोग संन्यासी हैं, आपको तो यह उचित है कि कहीं निर्जन गिरि-कन्दरा में चले जायँ और वहाँ भगवान् के ध्यान में डूबकर जीवन यापन करें। पर ऐसा न कर आप तो इन अनाथ बालकों के पालनरूपी विषम सांसारिक कार्य में लिप्त हो गये हैं।"

इसका ठीक ठीक उत्तर देने में हम सक्षम हैं अथवा नहीं, कह नहीं सकते, तथापि 'संन्यासी होकर भी उक्त कार्य को करने की विशेष आवश्यकता' पर हम अपनी दो-चार बातें जनसाधारण के समक्ष रखने के इच्छुक हैं।

इस जगत् में मनुष्य से बढ़कर शक्तिशाली दूसरा कोई भी जीव नहीं है। मनुष्य ही सारी शक्तियों का केन्द्र है। मानव-बुद्धि के लिए भला क्या अगोचर है ? कौन उसका अन्त पा सकता है ?

मानवाकार ऋषियों के हृदय में अपूर्व छन्दोमयी वेदराशि प्रकट हुई; चिरशान्तिप्रद, ज्ञानगर्भ और मानवोन्नति की चरम सीमा जो उपनिषद् हैं, वे भी दो हाथ-पैर वाले मानव की महा तपस्या और साधना के फल-

स्वरूप ही उपलब्ध हुए; मन-वाणी से अगोचर सर्वव्यापी सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना का आविर्भाव भी इसी मानव-हृदय में होता है; वेदमूर्ति ऋषि, अवतार, ज्ञानी, भक्त तथा कवि आदि का आविर्भाव भी हम मानव-शरीर में ही देख पाते हैं।

मनुष्य की इस जगत् में किसी से तुलना नहीं की जा सकती। अति गूढ़ आत्मतत्त्व और समस्त वैज्ञानिक सत्यों का विकास मानव के भीतर ही होता है। मानुषिक और अमानुषिक, लौकिक और अलौकिक सारी शक्तियाँ एकमात्र मानव में केन्द्रित हैं। इतना शक्तिशाली होकर भी मनुष्य यदि अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करने का प्रयास न करे, तो उसका पतन अवश्यम्भावी है। मानव-समाज के लुप्त गौरव को पुनः समुन्नत करने की इच्छा से किया गया कार्य ही परम पुरुषार्थ है।

सभी सभ्य जातियाँ एक मत से इस बात को स्वीकार करेंगी कि यदि मानव-मानव के बीच आपसी प्रेम का अभाव है, तो फिर ईश्वर-प्रेम और भगवद्भक्ति की बातें कोरी बातें ही रह जाती हैं। केवल तत्त्ववेत्ता लोगों के जीवन में ही हमें विश्वप्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

इस भारतभूमि में मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए न जाने कितने सहस्र लोगों ने आनन्दपूर्वक अपना जीवन अर्पित कर दिया है—उन सबका उल्लेख करना हो तो लेखनी ही जवाब दे दे। अतः हम एक सुदीर्घ लेख का विचार त्यागकर अपने प्रस्तावित विषय की चर्चा करेंगे।

भारत के वर्तमान अधःपतन का कारण वैषम्य और भेदबुद्धि है

जब जीवन-धारण के लिए आवश्यक सामान्य अन्न-

वस्त्र के अभाव में भारतवासी हतबुद्धि हो रहे हैं, सामान्य ओषधि-पथ्य के अभाव में रोग-शोक से जर्जर हो रहे हैं, साधारण सी निवासयोग्य कुटिया के अभाव में शीत-ताप से कष्ट पा रहे हैं, सामान्य सी शिक्षा के अभाव में अपना हित-अहित नहीं समझ पा रहे हैं, और बली के अत्याचार से सदैव उत्पीड़ित हो रहे हैं, तब ऐसे में उनके इन महान् दुःखों को दूर करने की चिन्ता या प्रयास न कर उन्हें केवल वेदान्त के 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की व्याख्या सुनाना क्या कोरी बकवास नहीं है ? उनके समक्ष अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना क्या एक हृदयवान् व्यक्ति का कार्य है ?

प्रत्येक कार्य का अपना उपयुक्त समय होता है । भारतवासी आज जीवन की जिस विषम समस्या में पड़े हैं, उसकी थोड़ी चिन्ता करना हमारे लिए उचित नहीं है क्या ? कोटि कोटि भारतवासियों की वास्तविक हालत का पता लगाने पर हम देख सकते हैं कि वे लोग जीवनी-शक्ति से रहित अस्थिपंजर मात्र रह गये हैं, जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को जुटाने में ही उनकी सारी ताकत खत्म हो जाती है । यदि मनुष्य का चोला छोड़ दें तो उनमें मनुष्यता के नाम से कुछ भी नहीं है ।

इस अधःपतन का क्या कारण है ? एकमात्र सामाजिक वैषम्य ने ही इस महान् अनर्थ की सृष्टि की है । इस वैषम्य-दोष के कारण समस्त समृद्ध राष्ट्रों को अपनी अतुल सुख-समृद्धि समुद्र के अतल गर्भ में डुबाकर पतन की चरमावस्था तक पहुँचना पड़ा था । मानवजाति का इतिहास चिरकाल तक इस कथन की साक्ष्य देता रहेगा ।

जिस किसी राष्ट्र या समाज के लोगों ने अपने स्वार्थ

के वशीभूत हो जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर विविध उपायों से अधिकार जमा लिया और उसके द्वारा जन-साधारण पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया, उन्हें अध:पतित होना पड़ा है। जैसे आध्यात्मिक जगत् में, वैसे ही जनसमाज में भी भेदबुद्धि के कारण ही सारे अनिष्टों का सूत्रपात हुआ करता है। स्वयं श्रुति कहती है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मन: क्षत्रं वेद।
लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद।*

—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक आदि उसे परास्त कर देते हैं, जो इन्हें आत्मा से भिन्न जानता है।'

इस भेदबुद्धि से ही ऊँच-नीच का बोध और व्यवहार में विषमता आती है। और यह विषमता सर्व दु:खों का मूल कारण है। जातिगत, सम्प्रदायगत, वंशगत तथा अन्य प्रकार की विषमताओं के दोष से मानव-समाज में ईर्ष्या-द्वेष होता है और लोग अपने आपको बरबाद कर डालते हैं।

समानता और उदारता से ही राष्ट्र की उन्नति का युग आता है

कोई राष्ट्र जब उन्नत होता है, तब उसमें ऐसे वैषम्य का रहना सम्भव नहीं। वैदिक युग में जब हमें पहले-पहल आर्यों से परिचय प्राप्त होता है, तब पूर्वोक्त वैषम्य दोष का लेश भी उनमें देखने को नहीं मिलता। वेदों के प्रारम्भिक संहिता भाग में ऐसे अनेक मंत्र दीख पड़ते हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि सबके लिए समान रूप से कल्याण-कामना करने का उपदेश दिया गया है।

* 'बृहदारण्यकोपनिषद्', ४/५/७।

वैदिक काल की बात छोड़कर अब हम बौद्ध युग पर आते हैं। भगवान् बुद्ध के अभ्युत्थान के बाद जो शान्ति फ़ैली थी, वैसी शान्ति तथा वैसा सार्वभौम भाव क्या भारतीय इतिहास के अन्य किसी अध्याय में दीख पड़ता है ? भगवान् बुद्ध जिस शान्ति का प्रचार कर गये, वह क्या इस महा अनिष्टकर विषमता का विनाश करनेवाली नहीं है ? उस काल में भारतमाता ने सहस्र-सहस्र सुपुत्रों को जन्म दिया और वे लोग शान्ति की गोद में पलकर संसार में अपनी अक्षय कीर्ति छोड़ गये, इस बात से भला कौन इन्कार कर सकता है ? बौद्धकालीन भारत में जिन महापुरुषों ने जन्म लिया था, उनका कीर्तिस्तम्भ तथा विजय-पताका आज भी सारे सभ्य संसार में विद्यमान है।

भारत की यह गौरवगाथा क्या बौद्ध धर्म की उदारता का ज्वलन्त उदाहरण नहीं है ? खेद है कि भारत का वह सौभाग्य-सूर्य आज अस्त हो चुका है। संकीर्णता और विषमता रूपी अमावस्या का घोर अन्धकार आज सारे भारत में व्याप्त है। भारत पुनः उस महासूर्य के उदय की प्रतीक्षा में बैठा है तथा विश्व-प्रेम की उस शीतल छाया में आश्रय लेने को व्याकुल हो रहा है।

हम हरदम आन्तरिकतापूर्वक भगवान् से प्रार्थना करते हैं, 'हे प्रभो ! हमें तेज दो, ओज दो, बल दो, जिससे हम अपने उस लुप्त गौरव का पुनः उद्धार कर सकें।'

प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए सुख-प्राप्ति हेतु प्रयास करने का अधिकार है। जो समाज अथवा शासन इस बात को स्वीकार करता है और स्वाधीनतापूर्वक मानव को उन्नति की ओर ले जाता है, वह ईश्वर को प्रिय है और ऐसे समाज में चिरशान्ति वास करती है, और वहीं भगवान्

स्वयं नररूप में आविर्भूत होते हैं। महाशक्ति उनके हाथ में खेलने की पुतली बन जाती है। खराब शासन मानव की उन्नति में बाधक है और इस दुःशासन के फलस्वरूप ही भारत आज महादुःख के सागर में डूबा हुआ है।

प्राथमिक अभावों की पूर्ति ही उन्नति-प्रकल्प का प्रथम सोपान है

अब हम चर्चा करके देखेंगे कि किस उपाय का अवलम्बन करने से भारत के वर्तमान दुःखों का थोड़ा उपशम हो सकता है, किस प्रकार भारतवासी बलवान् होकर अपने मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति कर सकते हैं तथा आर्य जाति के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार कर सकते हैं ?

भारतवासी के लिए जीवन और मृत्यु एकसमान हो गये हैं। जो भारतवासी एक मुट्ठी अन्न के लिए लालायित है, उसे धर्म का गूढ़ तत्त्व, मनोविज्ञान के कूट तर्क, सांख्य की जटिल मीमांसा और वेदान्त का मायावाद सुनाने से क्या उसकी क्षुधा शान्त होगी ?

इन सब विषयों को लेकर दिमाग खराब करने का अभी समय नहीं आया है। उन दुर्बोध विषयों पर चर्चा के बारे में तो ऐसा लगता है कि जब 'सिर ही नहीं, तब सिरदर्द कैसा !'

यदि मुट्ठीभर भारतवासियों की विद्या, बुद्धि और ज्ञान-चर्चा से सोया भारत जाग उठता, तो मैं समझता कि ज्ञान-चर्चा सार्थक है। यदि यह सही होता तो फिर सारा भारत आज कालनिद्रा में पड़ा हुआ इस विभीषिका का दृश्य उपस्थित नहीं करता।

जिसके पेट में अन्न नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं, रहने को जगह नहीं और जो सर्वदा अपने परिवार के भरण-

पोषण की चिन्ता में ही परेशान है, उसके चित्त में इन चीजों के लिए भला कैसे स्थान हो सकता है? उसे पेट को छोड़ दूसरा कुछ सोचने का समय ही कहाँ है?

अतः आइए, हम सबसे पहले उनके सूखे कण्ठ को तर करने का उपाय करें, उनकी प्रदीप्त जठराग्नि को शान्त करने का कोई सहज तरीका सोचें। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—धर्म की साधना में शरीर सबसे पहला उपकरण है, उसकी व्यवस्था किये बिना धर्मजीवन की उपलब्धि कोरी कल्पना है। फिर यह भी सही है कि अगर सारी शक्ति देह-रक्षा के प्रयास में ही खर्च कर दी जाय, तो भी धर्मजीवन की उपलब्धि नहीं होगी।

अतः आज देश के सभी शिक्षित, समर्थ तथा देश की भलाई चाहनेवाले लोगों का कर्तव्य है कि वे ऐसा प्रयास करें, जिससे जनसाधारण को शिक्षा मिले, जिससे वे लोग अपनी आजीविका का उपार्जन करने के लायक काम में दक्षता प्राप्त कर लें और सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हुए अपना बचा हुआ समय अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने में लगा सकें।

भारतवासी की यह अन्न-चिन्ता थोड़ी कम होते ही यह धर्मप्राण भारत फिर से अपने स्वधर्म में प्रतिष्ठित होकर विश्व में शीर्षस्थानीय हो जाएगा और धर्मराज्य के अभूतपूर्व तत्त्व की उपलब्धि कर जगत् को विस्मय में डाल देगा।

○

श्रीरामकृष्ण : जीवन और उपदेश

स्वामी शुद्धानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी शुद्धानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के पाँचवें महाध्यक्ष थे। उनका यह प्रस्तुत लेख १९३६ ई० में श्रीरामकृष्णदेव की जन्म-शताब्दी के अवसर पर लिखा गया था और बँगला मासिक पत्रिका 'वसुमती' में प्रकाशित हुआ था। उनकी कुछ रचनाओं का संग्रह उद्बोधन कार्यालय द्वारा 'स्वामी शुद्धानन्द : जीवनी ओ रचना' के नाम से पुस्तकाकार में छापा गया है, जहाँ से प्रस्तुत लेख गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। —स०)

१८८६ ई. के अगस्त में श्रीरामकृष्ण ने देहत्याग किया। उस समय मेरी आयु चौदह वर्ष से किंचित् कम थी। इसके पहले ही कलकत्ते में उनका नाम फैल चुका था और उनके कुछ उपदेश भी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो चुके थे। उनके जीवनकाल में ही मेरे सुनने में आया कि उनके सम्पर्क के फलस्वरूप ही ब्राह्मसमाज में मातृभाव की साधना प्रचलित हुई है तथा जिन लोगों ने यज्ञोपवीत त्यागकर ब्राह्मधर्म स्वीकार किया था, उनमें से किसी-किसी ने उनके पास आवागमन के फलस्वरूप पुनः यज्ञोपवीत धारण कर लिया है, और यह कि उनमें शास्त्रों की गूढ़ बातें सामान्य लोगों को भी सहज भाषा में समझा देने की क्षमता है। परन्तु उन दिनों अपनी कम आयु तथा धर्म की ओर विशेष रुझान न होने के कारण मैं उनके दर्शन को नहीं गया। अब बारम्बार मन में आता है कि यदि एक बार भी उनका दर्शन कर लेता, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाता। अब भी अनेक ऐसे वयस्क लोगों से भेंट होती है, जिन्हें उनके दर्शन का सौभाग्य मिला था; यह बात और है कि उस समय वे उनकी महिमा समझ नहीं पाये

थे। अब वे उनकी महिमा समझ पाये हों अथवा नहीं, पर उस देवदुर्लभ रूप का दर्शन तो उन्होंने किया ही था, यह सुनकर लगता है कि अहा! वे कितने भाग्यवान् थे! और उनके चरणों में लोट जाने की इच्छा होती है।

जो हो, परमहंसदेव के लीला-संवरण के चार वर्ष बाद मैंने काँकुड़गाछी के योगोद्यान में महात्मा रामचन्द्र के दर्शन किये और उनके द्वारा (बँगला में) लिखित 'रामकृष्ण परमहंसदेव का जीवन चरित' पढ़कर उनके जीवन तथा उपदेशों के प्रति विशेष आकर्षित हुआ। फिर क्रमशः श्रीयुत महेन्द्रनाथ गुप्त (श्री'म') और भक्तप्रवर गिरीश चन्द्र घोष आदि गृही भक्तों की कृपा से उस समय के वराहनगर मठ में जाकर स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त बाकी सभी संन्यासियों के साथ परिचित हुआ। स्वामी विवेकानन्दजी की पाश्चात्य-विजय के पश्चात् १८९७ ई. के प्रारम्भ में कलकत्ता आने के पूर्व तक मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला था।

श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों तथा अनुरागियों ने उनके श्रीमुख से सुनकर तथा अन्य अनेक स्रोतों से संग्रह कर उनकी जीवनी तथा उपदेशों का प्रकाशन किया है, और जिन लोगों ने उन्हें नहीं देखा है, उनमें से भी अनेकों ने ऐसा करने का संकल्प किया है और अब भी कर रहे हैं। इस प्रकार उनकी जीवनी तथा उपदेश विषयक बहुत-सी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है और अब भी हो रहा है। अतः इस छोटे से लेख में उन्हीं विषयों को पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं है। मैं पाठकों से इन ग्रन्थों का अध्ययन करने का हार्दिक अनुरोध करता हूँ। उनके शिष्यों के सम्पर्क में आकर उनका जीवन देखकर, उनकी बातें सुनकर तथा

उपर्युक्त पुस्तकों का अध्ययन करने के फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण के चरित्र एवं उपदेशों का जो मूलतत्त्व मेरी समझ में आया है, उसी को मैं यहाँ अति संक्षेप में लिपिबद्ध करूँगा।

यदि एक वाक्य में श्रीरामकृष्ण का चरित्र कहना हो, तो इतना ही कहना होगा कि वे ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते थे। बचपन से ही कभी-कभी वे भगवद्भाव में इतना विभोर हो जाते कि उनकी बाह्य-चेतना का लोप हो जाता। स्कूल की पढ़ाई को पेट भरने की विद्या समझकर उसमें वे बिल्कुल रुचि नहीं लेते थे। तदुपरान्त वे दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में पुजारी नियुक्त हुए और संकल्प किया कि या तो जगदम्बा का साक्षात्कार करूंगा, नहीं तो देहत्याग कर दूंगा। इसके फलस्वरूप उन्हें माँ का साक्षात् दर्शन मिला। फिर इस अनुभूति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उन दिनों मन्दिर में जितने भी साधु-संन्यासी तथा विभिन्न मतावलम्बी सिद्ध पुरुष आते, उनमें से प्रायः सभी को उन्होंने गुरु के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने अद्वैतवादी तोतापुरी, तन्त्रविद् भैरवी ब्राह्मणी एवं रामभक्त जटाधारी आदि का गुरु के रूप में वरण किया। इन लोगों ने उन्हें जो भी निर्देश दिये, श्रीरामकृष्ण ने उनका यथावत् पालन किया। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था—श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना। वे धर्म को मतवाद मात्र नहीं मानते थे, वरन् उनके जीवन का मूलमंत्र था—साधना। काम-कांचन में आसक्ति तथा अहंकार को ईश्वरोपलब्धि के मार्ग में बाधक जानकर उन्हें दूर करने के लिए उनकी 'रुपया-मिट्टी—मिट्टी-रुपया' की साधना, कालीमन्दिर में कंगालों द्वारा छोड़ा हुआ भोजन करना, दूसरों का शौचालय

साफ करना आदि साधनाओं की बात सर्वविदित है। इस प्रकार उन्होंने क्रमशः भौतिक जगत् को पार करके भावराज्य में और तदुपरान्त सर्वभावविवर्जित निर्विकल्प भूमि तक आरोहण किया था। यह जगत् का सौभाग्य था कि काफी काल तक दिन-रात बाह्यज्ञानशून्य अवस्था में रहकर भी माँ की इच्छा से उनका देहपात नहीं हुआ। उनके लिए ईश्वर-साधना के विभिन्न मतों में न कोई छोटा था, न बड़ा। उनकी इसलाम तथा ईसाई धर्मों की साधना भी विश्वविश्रुत है।

मुझे ऐसा लगता है कि विभिन्न मत-मतान्तरों की ओर ध्यान न देकर निरन्तर ईश्वर-प्राप्ति की साधना का प्रयास करते रहने के फलस्वरूप उनका जीवन जैसा गम्भीर हुआ, वैसा ही उदार भी। वे यदि किसी चीज से घृणा करते थे तो वह थी सांसारिकता या संसार के प्रति आसक्ति। ईश्वर का साक्षात्कार किये बिना वे धर्मप्रचार करने को अग्रसर नहीं हुए, अथवा हम कह सकते हैं कि वे तो अपने तईं कभी धर्मप्रचार करने के इच्छुक न थे, जगदम्बा ने उन्हें यंत्र बनाकर उनसे जो कुछ भी कहलवाया, उन्होंने उतना ही कहा, और इसी कारण उनके प्रत्येक वाक्य में इतनी शक्ति निहित है। साधनावस्था में उन्हें पागल समझकर कई लोगों ने उनका इलाज कराने का प्रयास किया था, परन्तु उनकी ईश्वरप्रेमरूपी व्याधि पर कोई भी लौकिक चिकित्सा कारगर नहीं हुई। उनकी इस साधनावस्था में अनेक पण्डित, साधक तथा सिद्ध लोग उनकी इस अश्रुतपूर्व साधना को देखकर मुग्ध हो गये थे। फिर आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त केशवचन्द्र एवं उनके अनुयायी भक्तसाधकों के साथ श्रीरामकृष्ण का सम्पर्क

होने के फलस्वरूप सनातन हिन्दू समाज में भी एक विशेष आलोड़न की सृष्टि हुई थी, फिर अन्त में कुछ युवक संसार को तिलांजलि देकर उनके निष्ठावान् अनुयायी हो गये थे।

उनकी उक्तियाँ अत्यन्त सहज हैं, पर उनका मर्म अति गहन है। ईश्वर को चाहे जिस नाम से भी क्यों न पुकारो, उसे ब्रह्म, काली, शिव, विष्णु, कृष्ण, अल्ला या गॉड चाहे जो भी कहो, उससे एक ही सच्चिदानन्द ईश्वर का बोध होता है; ठीक उसी प्रकार, जैसे जल को पानी, वाटर, एकवा चाहे जो भी कहो उससे प्यास दूर होती ही है।

आम के बगीचे में जाकर पत्ते गिनने से कोई लाभ नहीं—आम तोड़कर खाने से ही तृप्ति मिलती है। उसी प्रकार शास्त्र को लेकर उस पर तरह-तरह से वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं—सच्चिदानन्द को पाकर उसके साथ आनन्द करना यही शास्त्र की सार बात है और इसी में सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने का फल निहित है।

ईश्वर का आदेश पाये बिना प्रचार-कार्य में लगना व्यर्थ है, क्योंकि कोई भी तुम्हारी बात पर ध्यान नहीं देगा या फिर सुनकर भी उसका कोई विशेष उपकार न होगा।

श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही ईश्वर के लिए सर्वस्व का त्याग किया था और सांसारिकता को वे घृण्य मानते थे, परन्तु विशेष अधिकारी व्यक्तियों को छोड़ वे जिस-तिसको संसार-त्याग का उपदेश नहीं देते थे, वरन् इतना कहते थे कि ईश्वर को अपने जीवन का एकमात्र ध्रुवतारा बना लो। जैसे ढेंकी में चूड़ा कूटनेवाली महिलाएँ चूड़ा कूटने के साथ ही साथ और भी कई तरह के कार्य करती रहती हैं, परन्तु उनका ध्यान इसी बात पर रहता है कि कहीं

ढेंकी हाथ पर न पड़ जाय, उसी प्रकार संसार के सारे कर्म करो, पर ध्यान सदा ईश्वर की ओर रखना।

उनकी जीवनी तथा उपदेशों पर चर्चा करने से हमारा क्या लाभ होगा? होगा, परम लाभ होगा, चाहे कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, किसी भी मत में विश्वासी क्यों न हो; क्योंकि सभी सम्प्रदायों में साधना की व्यवस्था है। सब लोग उनका उदाहरण सामने रखकर अपने-अपने मतानुसार साधन-भजन में अधिकाधिक समय दे सकते हैं। उनके जीवन तथा उपदेशों में conversion (धर्मान्तरण) को कोई स्थान नहीं है और यदि किसी तरह के conversion को स्थान है तो वह है हृदय के conversion (परिवर्तन) के लिए। परन्तु दूसरों का हृदय-परिवर्तन करने की चेष्टा करने से पूर्व अपने हृदय का परिवर्तन करने की विशेष आवश्यकता है। अतः हम लोग यदि साधन-भजन की ओर अधिक ध्यान दें तो उदारता का भाव अवश्य आएगा, क्योंकि तब हमारे पास दूसरों की निन्दा करने को न तो समय होगा और न इच्छा ही होगी। हिन्दू को मुसलमान या ईसाई बनाने का प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं, शाक्त को वैष्णव बनाने का प्रयत्न करने की कोई जरूरत नहीं और द्वैतवादी को अद्वैतवादी बनाने की कोशिश भी अनावश्यक है। श्रीराम-कृष्ण के जीवन का अनुसरण करते हुए आज से हम सभी विशेष निष्ठा के साथ साधना में लग जायँ। जो लोग ईश्वर के लिए सर्वस्व त्याग नहीं कर सकते, वे जितना सम्भव हो उतना ही करें। हम यदि सम्पूर्णतः काम-कांचन-त्यागी नहीं भी हो सके तो जितना भी हो सकेंगे उसी में हमारा कल्याण है।

जो लोग कहते हैं कि दूसरों को समझाना ही, दूसरों के साथ वाद-विवाद तथा वितण्डावाद ही हमारे धर्म का अंग है, जिन्हें कुकर्म के रूप में जाना जाता है वही हमारे धर्म का अंग है, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे श्रीरामकृष्ण के चरित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें। वे जीवन भर सीखते ही रहे—कहते, 'सखि, जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ।' गुरु, स्वामी या बाबा (पिता) कहने पर उन्हें बड़ा कष्ट होता था। यथारीति तंत्रसाधना करने के बावजूद उन्होंने न तो एक बूंद मद्य का सेवन किया और न ही नारी-मात्र को जगदम्बा के अतिरिक्त अन्य किसी भाव से देखा। वे कहा करते थे, 'सभी सोचते हैं कि मेरी घड़ी ठीक चल रही है। परन्तु सच पूछो तो किसी की घड़ी ठीक नहीं चलती, इसलिए बीच-बीच में सूर्य को देखकर अपनी घड़ी मिला लेनी पड़ती है। अथवा जिस प्रकार वर्षा का जल शुद्ध होता है, परन्तु वह छत पर पड़कर विविध प्रकार की धूल-गन्दगी से मिलकर विभिन्न नालियों से होकर नीचे गिरता है, उसी प्रकार जिन लोगों ने ईश्वर-प्राप्ति की है, जो जगत् के विभिन्न धर्मों के संस्थापक हैं, वे सभी उस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द की अनुभूति कर एक-जैसी बातें ही कह गये हैं, परन्तु देश, काल और पात्र के अनुसार जहाँ जैसी जरूरत हुई—कहीं कर्म पर, कहीं ज्ञान पर, कहीं भक्ति पर, कहीं द्वैतवाद पर तो कहीं अद्वैतवाद पर—विशेष बल दिया गया है। पर हम अज्ञ और कामनान्ध जीव ठहरे—हमने अपनी दुर्बलता एवं अज्ञानता के अनुसार उसमें तरह-तरह की बेकार की चीजें मिला डाली हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि श्रीरामकृष्णदेव की 'जितने मत उतने पथ' वाली बात एकदम सच्ची है, परन्तु इतना ही

ध्यान रहे कि कहीं हम धर्म की दुहाई देते हुए अपनी दुर्बलता, अज्ञानता तथा स्वार्थपरता से उद्भूत अनाचार को ही धर्म के नाम पर चलाने का प्रयास न कर बैठें।

लोग कहते हैं कि हमारे समक्ष आजकल राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा आदि से सम्बन्धित, तरह-तरह की समस्याएँ हैं, तो क्या श्रीरामकृष्ण के चरित तथा उपदेश पर चर्चा करने से उनका समाधान होगा? हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि हाँ, अच्छी तरह उनका अनुष्ठान करने पर अवश्य ही समस्त समस्याओं का हल मिल जाएगा। समाज और राष्ट्र की मूल समस्या है स्वार्थ-परता और निःस्वार्थता के बीच खींचातानी। जब तक समाज पर स्वार्थपरता का निर्विरोध शासन चलता रहेगा, तब तक राष्ट्रीय एवं सामाजिक नियमों में चाहे कितना भी परिवर्तन क्यों न लाया जाय, मानव को शान्ति नहीं मिलेगी। यदि विद्या की बात कहो, तो सबसे बड़ी विद्या है विज्ञान (Science), परन्तु हम देखते हैं कि विज्ञान के द्वारा हमने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है, उसका कितना दुरुपयोग हो रहा है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण की भाषा में इतना ही कहकर मैं समाप्त करना चाहूँगा कि ईश्वररूपी खूँटे को पकड़कर चाहे जितने भी वेग से चक्कर लगाते रहो—जी भरकर राजनीतिक-सामाजिक आदि विषयों पर चर्चा करो, गिरने का भय नहीं रहेगा। परन्तु लक्ष्यहीन होकर चक्कर लगाने से पतन अवश्यम्भावी है। फिर यह भी कह देना उचित होगा कि ईश्वर-प्रेम तथा धर्म के प्रति तीव्र आकर्षण हुए बिना केवल शुष्क नीतियों के द्वारा कभी भी स्वार्थपरायणतारूपी व्याधि को पूर्णतः दूर नहीं किया जा सकता।

ईश्वर-प्रेमी कहते हैं, 'नाहं नाहं, तुहुँ तुहुँ'। वे लोग दल बाँधकर समाज-सेवा करने नहीं जाते। जीव को नारायण की मूर्ति समझकर उनकी सेवा में आत्मसमर्पण कर देते हैं।

श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों का अनुसरण करने से जगत् में एक अभूतपूर्व सेवाधर्म का उदय होगा और उसी से समस्त समस्याओं का समाधान होकर विश्व में शान्ति-राज्य की प्रतिष्ठा होगी। परन्तु इसके लिए हममें से हर एक को इस पूत जीवन तथा वाणी का श्रवण, मनन एवं अनुध्यान करना होगा।

केवल श्रीरामकृष्णदेव को 'अवतारवरिष्ठ' कहकर शोर मचाते हुए लाखों सम्प्रदायों के बीच एक नया सम्प्रदाय बना लेने से काम नहीं होगा। जो लोग सच्ची आन्तरिकता के साथ श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों पर चर्चा करेंगे, वे बाहर से भले ही हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हों, द्वैतवादी या अद्वैतवादी हों, पर वस्तुतः वे 'नूतन मानव' होंगे; वे लोग अपने अहंकार को पूर्णतः तिलांजलि देकर, सभी सम्प्रदाय के नर-नारियों को 'भगवान् की अभिव्यक्ति' जानकर उनकी सेवा में अग्रसर होंगे।

वर्तमान युग में कुछ काल पूर्व ही यह आदर्श हमारे समक्ष प्रकाशित हुआ है। आइए, हम सभी उनकी जीवनी तथा उपदेशों पर चर्चा करें और उन्हें यथासाध्य अपनाकर अपना जीवन धन्य कर लें।

○

अनुभूति ही धर्म का मर्म

स्वामी गम्भीरानन्द

(श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उनके कतिपय व्याख्यानों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता ने 'कः पन्थाः' शीर्षक देते हुए पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत लेख वहीं से लिया गया है। मूल बँगला से अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। —स०)

श्रीरामकृष्ण के आगमन के उद्देश्य अथवा कारण के बारे में स्वामीजी ने अनेक बातें कही हैं। उन्होंने एक कारण यह भी बताया है कि लोग वैदिक धर्म को भूल गये थे और उन्होंने सिर्फ आचार-विचार, लोक-व्यवहार आदि को धर्म के आसन पर बैठा दिया था; श्रीरामकृष्ण उसी आसन पर अनुभूति को प्रतिष्ठित करने आये थे।

एक दिन दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे श्रीयुत बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवी चौधरानी' ग्रन्थ का पाठ हो रहा था। मास्टर महाशय पढ़ रहे थे—भवानी पाठक कहते थे कि मैं दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करता हूँ। धनिकों के यहाँ डकैती करके, उनका रुपया-पैसा छीनकर वे गरीबों को देते थे, उनकी सहायता करते थे। भवानी पाठक प्रफुल्ल को साधना के विभिन्न स्तरों में से ले जा रहे थे। प्रफुल्ल निरक्षर था, जिसे हम मूर्ख कहते हैं वैसा ही कुछ था; पाठक ने उसे लिखना-पढ़ना सिखाया, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी और उसे 'निषाद चरित' आदि कुछ ग्रन्थ पढ़ने को कहा। यह सब सुनकर श्रीरामकृष्ण बोले—इसका मतलब समझे? जिसने यह ग्रन्थ लिखा है, ऐसे लोगों का यही मत होता है

कि यदि लिखना-पढ़ना नहीं किया गया, किताबें नहीं पढ़ी गयीं, तो धर्मानुभूति नहीं होती—ईश्वर-लाभ नहीं होता। शिवनाथ शास्त्री की ही बात लें। वहाँ पर ठाकुर कह रहे हैं—"अजी शिवनाथ, सुना तुम लोग कहते हो कि मैं भगवान्-भगवान् कहते-कहते पागल हो गया हूँ! सो तुम लोग विषय का चिन्तन कर-करके अपना मस्तिष्क ठीक रख पाये हो और मैं ईश्वर का चिन्तन करते-करते पागल हो गया हूँ! यह तुम्हारी कैसी बात है जी?" भगवान् का नाम लेना, उनका चिन्तन करना और अपना सारा जीवन उन्हें अर्पित कर देना—यह जो भाव श्रीरामकृष्ण अपने साथ ले आये थे उसका स्मरण करते हुए एक कवि ने लिखा है—(भावार्थ) 'तुम मृत्यु को भूलकर किस अनन्त प्राण-सागर में आनन्दपूर्वक उतराते हो?' ठाकुर इस अनुभूति-तत्त्व को ही हमारे समक्ष स्थापित करने ले आये थे। धर्म केवल कहने की चीज नहीं है, धर्म हृदय की वस्तु है; यह बुद्धि से समझने की नहीं वरन् हृदय से अनुभव करने की चीज है—भगवान् को हृदय से प्रेम करने को ही वस्तुत: धर्म कहते हैं। श्रीरामकृष्ण मानव को अनुभूति के उसी स्तर तक उन्नीत कर देना चाहते थे।

और भी दृष्टान्त देता हूँ। यह जो लोकाचार या देशाचार की प्रथा है, यह सिर्फ अशिक्षित लोगों में प्रचलित रही हो, ऐसी बात नहीं है। मैं बंकिमबाबू और पण्डित शिवनाथ शास्त्री के बारे में कह चुका हूँ। और भी अनेक लोगों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो आपको 'लीला-प्रसंग' और 'वचनामृत' में ही मिल जाएँगे। तो भी दो-एक लोगों की बात कहता हूँ। जैसा कि दक्षिणेश्वर में हाजरा महाशय भी रहते थे। ठाकुर कहा करते थे—उनके

परिवार पर कुछ ऋण था। उस ऋण का थोड़ा शोध हो सके इसी उद्देश्य से वे आकर दक्षिणेश्वर में निवास करते थे। नाम-जप तो वे करते थे, परन्तु लोगों के सामने वे अच्छा दिखावा भी करते थे ताकि लोग उन्हें धार्मिक समझें। वे पूर्णतः धार्मिक न थे, भगवान् का नाम जपते तो थे पर सतही तौर पर, गहराई में जाने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। और भी एक सज्जन की बात है—वे थे ईशानचन्द्र मुखोपाध्याय। वे अच्छे और धार्मिक व्यक्ति थे, परन्तु उनमें धर्म कितना था?—बस, अनुष्ठानादि तक। शास्त्रों में जैसा कहा है—सन्ध्या-वन्दन आदि करना होगा। इससे आगे वे किसी प्रकार जाने को इच्छुक नहीं थे। ठाकुर ने देखा कि सन्ध्या के समय ईशान मुखोपाध्याय कोशा-कुशी आदि ले सन्ध्या करने को गंगा के तीर पर बैठे हैं। श्रीराम-कृष्ण उनके समीप जाकर बैठे और कहने लगे—ओ ब्राह्मण, ऐसा तुम और कितने दिन चलाओगे? यह सब छोड़कर डुबकी लगाओ। "रे मन, तू रूप के समुद्र में डूब जा; तल, अतल और पाताल तक में खोजने पर ही प्रेमरूपी रत्न तेरे हाथ लगेगा।" डुबकी लगाये बिना नहीं मिलता, सिर्फ ऊपर-ऊपर ही तैरने से क्या होगा? धर्म केवल बातों में नहीं है। लोगों को केवल शास्त्र पढ़ाने और समझाने में भी नहीं है। सम्भव है कि कुछ शास्त्र पढ़कर मैंने बौद्धिक रूप से समझ लिया, परन्तु उससे क्या अन्तर में अनुभूति हो सकती है? धर्म हृदय की चीज है, उसमें पूर्णतः डूब जाना होगा। श्रीरामकृष्ण ने एक बार स्वामी विवेकानन्दजी से कहा था, "अच्छा, मान ले एक नाद में मीठा रस है और तू मक्खी हो गया है, तो बोल तू कहाँ बैठकर रसपान करेगा?"

"महाशय, मैं किनारे बैठकर पीऊँगा।"

"किनारे पर बैठकर क्यों ?"

"नहीं तो डूब मरने का भय है ।"

"नहीं रे, ऐसी बात नहीं, वह अमृत का सागर जो है, उसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं अमर हो जाता है ।"

"सब कुछ छोड़-छाड़कर उनके भीतर डूब जाओ" —यह जो चैतन्य के भीतर प्रवेश करने की व्याकुलता है, श्रीरामकृष्ण यही बारम्बार हर एक को सिखा रहे हैं ।

श्रीरामकृष्ण ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के पास गये हैं, उनकी खूब प्रशंसा कर रहे हैं कि विद्यासागर केवल विद्या के सागर ही नहीं, अपितु दान के भी सागर हैं, उनमें कितने सद्‌गुण हैं । परन्तु ठाकुर कहते हैं—उसे अभी तक भीतर के मणि की खबर नहीं है । यदि होती तो वह इतना कर्म-सागर म डूबा न रहता । विद्यासागर-जैसे लोग भी तब तक भीतर का पता नहीं पा सके थे ।

श्रीरामकृष्ण ने ब्राह्मसमाजी लोगों से कहा था—तुम लोग भगवान् के ऐश्वर्य आदि की इतनी चर्चा क्यों करते हो ? तुम लोग आम के बगीचे में आम खाने आये हो, आम खाओ । उसमें कितने पेड़ हैं, कितनी डालें हैं और कितनी पत्तियाँ हैं—तुम्हें इतना सब हिसाब करने की क्या जरूरत ? चाहे जैसे भी हो सके यदि तुम यदु मल्लिक से मिल सको, एक बार यदि यदु मल्लिक के घर में प्रवेश पा सको, चाहे दीवार लाँघकर अथवा दरवान के धक्के खाकर,—यदि एक बार यदु मल्लिक से मिल सको तो उससे पूछने से ही तुम्हें सारी जानकारी मिल जाएगी कि उसके कितने का कम्पनी का कागज है, कितने रुपये हैं और कितने मकान हैं । पहले यदु मल्लिक को पहचानो, उसके समीप जाओ । सो भगवान् के ऐश्वर्य का इतना

वर्णन करने से क्या लाभ? पहले उनसे प्रेम करो। उन्हें समझो। और केवल समझो ही नहीं, उन्हें हृदय से स्वीकार करो। यहाँ बुद्धि से समझने की बात नहीं है, यहाँ है अनुभूति के राज्य में जाकर उनसे मिलकर एक हो जाने की बात। श्रीरामकृष्ण यही बात बारम्बार कह गये हैं और वर्तमान युग को यही उनकी बहुत बड़ी देन है। धर्म किसे कहते हैं, यह वे दिखा गये हैं। धर्म का अर्थ है ईश्वर की अनुभूति, उन्हें हृदय से प्रेम करना और उनमें डूबकर एक हो जाना। वे हमारे जीवन के एकमात्र सम्बल हैं, ध्रुव-तारा हैं—उन्हें इसी प्रकार अपनाने के लिए ठाकुर बारम्बार तरह-तरह से कह गये हैं। भगवान् के नाम पर उनकी उन्मत्तता देखकर श्रीयुत प्रतापचन्द्र मजुमदार ने कहा था—"अरे बाबा, इन पर तो मानो भूत सवार हो गया है।" अपनी अनुभूतियों के बारे में ठाकुर ने कहा था, "यहाँ की अनुभूतियाँ वेद-वेदान्त को भी पीछे छोड़ गयी हैं।" यह बात जब मैंने पहली बार सुनी, तब मैं काफी छोटा था। उस समय मैंने सोचा था कि यह भला कैसी बात! मनुष्य की अनुभूति वेद-वेदान्त को पीछे छोड़ जाय! हमने तो सुना था कि वेद-वेदान्त सबके ऊपर है। उसके भी ऊपर चले गये हैं तो फिर वे कैसे आदमी होंगे? परन्तु अब सोचता हूँ कि वह सचमुच ही बचपना था। श्रीरामकृष्ण की अनुभूति कितनी दूर गयी थी, यह बात तो हम लिपिबद्ध पंक्तियों के द्वारा ही प्राप्त करेंगे,—पर वह वहीं अटकी रहेगी ऐसी कोई बात नहीं हो सकती। वे स्वयं भगवान् थे और मनुष्य के समक्ष अपना स्वरूप व्यक्त करने आये थे—उतना, जितना कि वे लोग ग्रहण कर पाते और जितना युगोपयोगी था। अतः जिनसे वेद-

वेदान्त निकले हैं, जिनके बारे में स्वामीजी ने कहा है कि "वेद-वेदान्त को समझने के लिए रामकृष्णरूपी सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखना होगा", वे ही श्रीरामकृष्ण यदि वेद-वेदान्त का अतिक्रमण कर और भी ऊपर चले जाएँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या? आप लोगों को अवश्य ही वह घटना स्मरण होगी, जब श्रीरामकृष्ण वाराणसी में नाव में बैठकर गंगाजी में विचरण कर रहे थे, अथवा मन्दिर आदि में दर्शन करने को जा रहे थे। उन्होंने देखा कि मणिकर्णिका घाट पर मृत शरीर का दाह हो रहा है; एक ओर से शिवजी आकर मृत व्यक्ति को तारकब्रह्म का नाम सुना रहे हैं और दूसरी ओर जगदम्बा उसके सारे बन्धन खोल दे रही हैं। यह बात जब उन्होंने एक पण्डितजी को बतायी, तो पण्डितजी बोले, "महाराज, आपकी अनुभूतियाँ तो हमारे शास्त्रों के भी परे चली गयी हैं। हम तो सिर्फ इतना ही जानते थे कि शिवजी तारकब्रह्म नाम देते हैं और जीव मुक्त हो जाता है, परन्तु यह सब कैसे होता है उसका जैसा आपने सविस्तार वर्णन किया, वह हमें विदित न था।"

उनकी अनुभूति के प्रसंग में और भी दो-एक बातें कहता हूँ। उदाहरणार्थ, उन्होंने दक्षिणेश्वर में देखा कि गंगा में एक मल्लाह का दूसरे मल्लाह से झगड़ा हो रहा है। सहसा वे 'उफ्' कहकर चिल्ला उठे। हुआ क्या था? एक मल्लाह ने दूसरे की पीठ पर जोर का थप्पड़ लगा दिया था। उससे श्रीरामकृष्ण की पीठ पर उस थप्पड़ का दाग उभर आया था। हृदय ने आकर देखा तो वहाँ पाँचों उँगलियों का लाल निशान उभर आया था। उसने पूछा, "मामा, तुम्हें किसने मारा?"—मारा तो नहीं, पर वे दोनों झगड़ा कर रहे थे। उनमें से एक ने दूसरे को मारा

तो ऐसा लगा मानो मुझे ही मारा हो! यह जो दूसरों के साथ मिल-जुलकर दूसरों की पीड़ा को अपना समझना है, उनके साथ एकात्म हो जाना है—यह अनुभूति उन्हें बुद्धि के द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा हुई थी। वे स्वयं भगवान् थे, सबके साथ एक थे, अवतारी पुरुष थे। वे सबके अन्तर में हैं और सबके साथ मिलकर एक हो गये हैं। इसीलिए उन्हें पीड़ा की अनुभूति हुई थी। उन्होंने नरेन्द्र आदि से कहा था, "देख, मैं जो तुम लोगों से प्यार करता हूँ, वह नरेन-राखाल समझकर नहीं करता। तुम लोगों के भीतर नारायण को देख पाता हूँ इसलिए करता हूँ। जिस दिन तुम लोगों के भीतर नारायण को न देख पाऊँगा, उस दिन से तुम्हारा मुँह भी नहीं देखूँगा।" मनुष्य के अन्दर वे नारायण देखते थे इसीलिए वे उनसे प्रेम करते थे, नरेन्द्र-राखाल से प्रेम करते थे, दरिद्रनारायण से प्रेम करते थे। उन्होंने कहा था—"जीव पर दया नहीं, शिव-भाव से जीव की सेवा।"—बुद्धि से नहीं, वरन् हृदय की अनुभूति से। जैसा कि श्री माँ सारदादेवी ने कहा था—ठाकुर कोई योजना बनाकर नहीं कर गये। ठाकुर की अनुभूतियाँ तथा अनुभूतिनिःसृत वाणी philosophy (दर्शनशास्त्र) नहीं है। मान लो बुद्धि से मैंने सोचा कि हेगेल ने ऐसा कहा है, काण्ट ने ऐसा कहा है और शॉपेनहावर ने ऐसा कहा है; और इनके भीतर कुछ मिला-जुलाकर मैंने भी अपना एक मत चला दिया। तो, ठाकुर ऐसा कोई मत चलाने का उद्देश्य लेकर नहीं आये थे। उन्होंने स्वयं जो अनुभूतियाँ कीं, जो सत्य था, उसी का वे अपने जीवन तथा सन्देश के माध्यम से प्रचार कर गये हैं।

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

अठारहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में, और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ ठाकुर की अविराम भगवच्चर्चा चल रही है।

ज्ञान-पथ कठिन

इसके पहले ठाकुर ने 'बदजात मैं' को दूर करने तथा 'भक्त मैं', 'दास मैं' को रखने के लिए कहा था, क्योंकि इस 'मैं' में कोई दोष नहीं है। गुण-दोष हम किसे कहते हैं? जो भगवान् के पास ले जाय वह गुण है, और जो भगवान् से दूर कर दे वह दोष है। 'भक्त का मैं', 'दास मैं' भक्त को भगवान् से थोड़ी दूर रखता है सही, लेकिन वह दूरी ऐसी नहीं है, जो उसके आस्वादन में बाधा उत्पन्न करे। यदि कोई यह कहे कि भक्त और भगवान् के बीच थोड़ी-सी भी दूरी क्यों बनी रहनी चाहिए, तो इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, उनसे अपनी दूरी मिटा देने की बात मुंह से कहना सहज है, लेकिन कार्य रूप में उसे परिणत करना

उतना आसान नहीं है। भले ही मैं यह कहूँ कि मुझमें तीनों गुणों में से एक भी नहीं है, अतः मैं इन तीनों गुणों से मुक्त हूँ, लेकिन जब मैं यह कहता हूँ उस समय भी यह जानता हूँ कि मैं एकदम मुक्त नहीं हूँ। यह जो मुँह की बात और अन्तःकरण की बात में पार्थक्य है, उसके रहते मनुष्य कभी भी अपने आदर्श तक नहीं पहुँच सकेगा। 'गीता' में भगवान् ने कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

—जो भगवान् के निराकार भाव की ओर आकृष्ट हैं, उनका कष्ट अधिक है, क्योंकि जो मन-वाणी से अतीत है, उसकी ओर जाया भी नहीं जाता, फिर अन्य प्रकार से उसका आस्वादन करने की रुचि भी नहीं होती। इसलिए ठाकुर ने 'सोऽहं' भाव के प्रति सावधान कर दिया है। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह सिद्धान्त गलत है, अपितु यह कहा कि साधारण मनुष्य के लिए यह भाव सहजसाध्य नहीं है। हम मुँह से तो कहेंगे कि 'मैं वह हूँ' और उधर हजारों प्रकार के संशय और आसक्ति से घिरे रहेंगे। अतएव 'मैं वही हूँ' कहकर हम अपने आपको धोखा देते हैं और दूसरों को भ्रमित करते हैं। हम जिन साधनों के योग्य हैं, उन्हें छोड़कर जब हम उस साधन की ओर झुकते हैं जिसके योग्य हम नहीं हैं, तब हमारी अवस्था उस छोटे बच्चे की तरह होती है, जो अपना जूता छोड़कर अपने पिता के जूते में पाँव डालकर चलने की चेष्टा करता है। फलस्वरूप जैसे वह चल नहीं पाता, उसी प्रकार हम भी साधना-पथ पर अग्रसर नहीं हो पाते।

हम लोग हो गये हैं 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः। 'ततो

भ्रष्टः' इसलिए कि अपने लक्ष्य तक हम पहुँच नहीं सके, और 'इतो नष्टः' इसलिए कि जो साधन जिस व्यक्ति के लिए उपयुक्त है, उसमें उसकी प्रवृत्ति हुई नहीं, क्योंकि वह समझ बैठा कि वह साधनहीन अधिकारी के लिए है। अतः तुम जो साधना कर सकते हो, उसे ही निष्ठापूर्वक करो, उस पर श्रद्धा रखो। यही मुख्य बात है। जो साधना हम करेंगे, उस पर यदि हमारी श्रद्धा न रहे, यदि ऐसा लगे कि यह तो हीन लोगों के लिए है, तब तो वह साधना हमें कभी भी आगे नहीं ले जा सकेगी।

"जार जेइ भाव हॅय तार से उत्तम।
तटस्थ होये बिचारिले आछे तदुत्तम॥"

साधना करते समय जिसका जैसा भाव होता है, उसके लिए वही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसे ही पकड़कर वह आगे बढ़ सकता है। 'तटस्थ होये बिचारिले आछे तदुत्तम'—जिस भाव को लेकर ही आगे क्यों न बढ़ा जाय, लक्ष्य में पहुँचकर यदि विचार करके देखूं तो पाऊँगा कि उससे भी श्रेष्ठ भाव है।

जैसे अद्वैत भाव की साधना करते समय मनुष्य यह कहे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी भाव से मैं साधना करूँगा, तो सत्य तो यह है कि तब उसके लिए कोई साधना करना सम्भव नहीं है, क्योंकि मैं ही यदि ब्रह्म हूँ, तो फिर साधना कौन करेगा? हम स्वयं को यदि ब्रह्म से अभिन्न समझें, पहले से ही यदि इस अद्वैत सिद्धान्त को अपना लें, तब तो इसके बाद साधना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

पारमार्थिक सत्य

यह जो 'अहं ब्रह्म' साधना है, यदि तटस्थ होकर विचार किया जाय, तो देखेंगे कि इससे भी उच्चतर भाव

वह है, जहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ' कहना भी नहीं चलता। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो कहना है वह पार्थक्य को स्वीकार करके ही कहा जाता है—मन के भीतर ऐसा भेद रहता है कि मैं अलग हूँ और ब्रह्म अलग। मैं यह जो 'मैं' और 'हम' कहता हूँ, इन दो बातों का तात्पर्य क्या है? भेद की जो प्रतीति है, वह मिथ्या है, अर्थात् सत्य नहीं है। भेद की प्रतीति का होना साधना में कोई सिद्धि की बात नहीं है। अतः सत्य के पास जाकर यदि विचार किया जाय, तो देखेंगे कि उससे भी बड़ा भाव है, जिसमें प्रतिष्ठित होकर अद्वैतवादी कहते हैं ('माण्डूक्यकारिका', २/३२)—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

—पारमार्थिक सत्य यह हुआ कि 'मन का निरोध' कहकर कुछ नहीं है, 'ज्ञान की उत्पत्ति' कहकर कुछ नहीं है, 'बन्धन' कहकर कुछ नहीं है, 'साधक' कहकर भी कुछ नहीं है। हम जिन शब्दों का अद्वैत साधन में उपयोग करते हैं, वह सब तो कल्पित वस्तु को स्वीकार करके ही करते हैं। कल्पना को वास्तविक समझकर मानो हम विचार करते हैं कि मैं अद्वैत की साधना कर रहा हूँ। 'मैं' क्या है? उसकी स्थिति कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? यदि उसका स्वरूप ब्रह्म से भिन्न हो, तब तो मैं 'ब्रह्म' हो नहीं सकता। और 'अहं' यदि 'ब्रह्म' से अभिन्न हो तो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बात का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। दो वस्तुओं का सम्बन्ध पार्थक्य होने से ही होगा। वस्तु यदि एक हो तो स्वयं अपने साथ अपना क्या सम्बन्ध होगा? अतः साधना के समय जब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहा जाता है, तब इस कल्पित भेद को स्वीकार करके ही कहा जाता है। और इस कल्पित

भेद को यदि स्वीकार कर ही लिया, तब तो मुझमें द्वैत-भाव ही आ गया। इसलिए जब उस परम तत्त्व में प्रतिष्ठित होकर देखते हैं, तब पाते हैं कि इन बातों में कोई सार्थकता नहीं है—'न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः'—न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त।

बन्धन यदि सत्य है, तभी तो मुक्ति का प्रश्न उठेगा। जब बन्धन ही सत्य नहीं है, तब मुक्ति किस प्रकार सत्य होगी? अतः जिस दृष्टि से इन विभिन्न प्रकार की साधनाओं की बात कहता हूँ, उसके अनुसार इनमें से प्रत्येक के भीतर द्वैतभाव समाया हुआ है। वह द्वैत परमार्थतः न होते हुए भी व्यवहार में तो है ही; और इस व्यवहार का अवलम्बन करके ही तो इतने शास्त्र हैं, इतनी साधनाएँ हैं। शंकर 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या करते हुए 'अध्यास भाष्य' के प्रारम्भ में ही कहते हैं—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'—लोक-व्यवहार में नैसर्गिक रूप से सत्य और मिथ्या मिले-जुले रहते हैं।

साधना में द्वैतभाव

सत्य और मिथ्या को मिलाकर इस जगत् का सारा व्यवहार चलता है। सारा व्यवहार माने लौकिक व्यवहार और वैदिक व्यवहार दोनों ही। इस दृष्टि से देखने पर वेदों को भी नित्य कहना नहीं बनता। नित्य मात्र एक है, एक कहना भी मानो भूल है; नित्य मात्र वह है, जहाँ समस्त द्वैत का अवसान हो जाए, जिसे वेदान्त-दर्शन में अ-द्वैत कहा गया है। ऐसी दशा में वह परम सत्य क्या है? वह क्या है, यह मुंह से नहीं कहा जाता। यह मुँह से नहीं कहा जा सकना वक्ता की असमर्थता के कारण नहीं है। कहा इसलिए नहीं जाता कि वह मन-वाणी के अगोचर

है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—वाणी के साथ मन भी उसे न पाकर लौट आता है। और यह वाणी केवल लौकिक वाणी तक ही सीमित नहीं है, वैदिक वाणी की भी यही दुरवस्था है। वेद भी कभी ऐसा नहीं कहते कि उस वस्तु को वे प्रकाशित कर सकते हैं, क्योंकि 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ति'—वहाँ वेद अवेद हो जाते हैं, अर्थात् वेद अज्ञान का पर्याय बन जाता है। अतः शास्त्र, लौकिक या वैदिक व्यवहार कोई भी वहाँ काम का नहीं रह जाता। अद्वैत-साधना भी इसके अन्तर्गत आ जाती है। इस बात को यदि हम समझ सकें, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने से विरत हो सकते हैं। मैं कौन हूँ? किसको बड़ा करता हूँ? कौन बड़ा अधिकारी है? इन प्रश्नों का उत्तर कौन देगा? ब्रह्मज्ञान का अधिकारी अगर बड़ा होता है तो वह किससे बड़ा होता है? तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो उसकी पृथक् सत्ता है ही नहीं। अतः वह किसकी अपेक्षा, किस प्रकार बड़ा होगा? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही है। मिथ्या के राज्य में 'छोटी मिथ्या' और 'बड़ी मिथ्या' कहने का क्या तुक है? किन्तु इस मिथ्या के राज्य के भीतर से ही किसी न किसी प्रणाली का अवलम्बन करके इस मिथ्या से पार जाया जाता है। ध्यान रखना होगा कि यह सब प्रणाली भी मिथ्या है। जो भी प्रणाली है, वह प्रणाली होने के कारण मिथ्या है। इस दृष्टि से देखने पर अद्वैत-वेदान्त की साधना भी मिथ्या है और द्वैत-वेदान्त की साधना भी मिथ्या।

द्विविध भ्रम

पर कोई ऐसी मिथ्या है, जो हमें सत्य तक पहुँचा देती है। उसे शास्त्र में कहते हैं 'संवादी भ्रम'। भ्रम दो

प्रकार के होते हैं—'संवादी भ्रम' और 'असंवादी भ्रम'। एक व्यक्ति ने अन्धकार में प्रकाश देखा; देखकर उसे लगा कि एक मणि चमक रहा है। तब वह उस मणि को उठाने के लिए आगे बढ़ा। उस प्रकाश का अनुसरण करते हुए उसने जाकर देखा कि जिस प्रकाश को वह मणि समझ रहा था, वह एक मन्दिर के बन्द कपाट के बीच एक छिद्र से आता हुआ प्रकाश है। उसने किवाड़ को खोला तो देखा कि सचमुच वहाँ एक मणि है। मणि का जो प्रकाश दरवाजे के छिद्र से होकर बाहर आ रहा था, उसे ही उसने मणि समझा था। अब उसने जिसे पहले मणि समझा था, बाद में उसे समझ में आया कि वह मणि नहीं है, फिर भी उस मिथ्या का अनुसरण करते हुए आगे बढ़कर उसने मणि को पा लिया, अर्थात् सत्य को पा लिया।

एक और व्यक्ति ने ठीक इसी प्रकार के प्रकाश को दखकर उसे मणि समझा। उसे प्राप्त करने के लिए वह मन्दिर के दरवाजे के छिद्र से आते हुए प्रकाश की ओर बढ़ा। दरवाजा खुलते ही उसने देखा कि एक दीपक जल रहा है, मणि नहीं है। जहाँ अनुसरण करते हुए जाकर मणि प्राप्त हुआ, उसे कहा गया 'संवादी भ्रम' अर्थात् जो सत्य को प्राप्त करा दे। और जहाँ अनुसरण करते हुए जाकर मणि को अर्थात् सत्य को नहीं पाया गया, उसे कहा गया 'असंवादी भ्रम'। शास्त्रों की जितनी प्रणालियाँ हैं, वे सभी भ्रम हैं, लेकिन साक्षात् या परम्पराक्रम से वे हमें सत्य तक पहुँचा देती हैं, इसलिए उन सबको 'संवादी भ्रम' कहा गया है। शेष सब 'असंवादी भ्रम' हैं, जो सत्य तक नहीं पहुँचाते।

अपने अपने भाव में निष्ठा

यदि विराट् सगुण तत्त्व को हम अपने समान व्यक्तित्व-सम्पन्न समझकर उसकी भावना करें, तब जैसे भी हो, उसका अनुसरण करते-करते हम उस परम तत्त्व में पहुँचेंगे। अतः भ्रम के बीच से होते हुए भी वह 'संवादी भ्रम' है, अर्थात् सत्य से मिला देता है। शास्त्रों में जितनी साधनाएँ हैं, वे सभी 'संवादी भ्रम' के समान हैं। शास्त्रों में सर्वत्र जो निर्देश हैं, वे सब लगभग 'अरुन्धती न्याय' के समान हैं। अरुन्धती नक्षत्र को दिखाते हुए कोई यदि पहले ही यह कहे कि 'वह देखो अरुन्धती', तो उसे कोई खोज नहीं पाएगा। इसलिए पहले दिखाना होता है सप्तर्षि-मण्डल जिसे मनुष्य आसानी से खोज लेता है। उसके बाद सप्तर्षि-मण्डल की पूँछ की ओर से तीसरे वशिष्ठ नक्षत्र को दिखाना होता है। उसके बाद इस नक्षत्र के पास दृष्टि स्थिर करके देखना होता है एक अत्यन्त अस्पष्ट, क्षीण ज्योतिसम्पन्न नक्षत्र को। वही अरुन्धती है। ठीक इसी प्रकार से यदि पहले से ही उस परम-तत्त्व को समझाने की चेष्टा की जाय, तो कोई समझ नहीं सकेगा। इसलिए उसको रूप देकर, रस देकर, अनेक प्रकार से अपने लिए आस्वादन योग्य बनाकर—जिन सब अनुभूतियों और भावों के साथ हमारा परिचय है, उन सबके साथ उसे सम्बद्ध करके, कहीं उसे माँ कहकर, कहीं सखा तो कहीं प्रभु कहकर—हम शास्त्र के निर्देशन में ही उसे खोज पाते हैं। ठाकुर कहते हैं—इसके बाद वे ही बतला देंगे कि उनका स्वरूप क्या है। वे दिखा देंगे कि उनके भीतर कितना वैचित्र्य है, तथा उन सभी विचित्रताओं से परे भी उनका स्वरूप क्या है। असल बात यह है कि किसी भी

प्रकार से उनमें मन को डुबाकर रखना होगा, अथवा इसके विपरीत क्रम में यों भी कह सकते हैं कि चाहे जिस प्रकार हो, अपने इस क्षुद्र अहं को दूर करना होगा। इसी का नाम है साधना, फिर वह साधना चाहे अद्वैतभाव की हो, चाहे हमारे परिचित किसी भाव-सम्बन्ध में से होकर द्वैतभाव की।

○

रामकृष्ण मिशन की स्थापना और उसका ऐतिहासिक महत्त्व

डा० निमाईसाधन बोस

(लेखक हमारे देश के सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं। वे पहले जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता में इतिहास के प्राध्यापक थे। सम्प्रति विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन के कुलपति हैं। उन्होंने रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान, कलकत्ता के ५२ वें स्थापना-दिवस के अवसर पर अँगरेजी में जो भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द।—स०)

स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिष्ठित रामकृष्ण मिशन १८९७ ई. में अपने जन्म के बाद से लाखों दीन-दुखियों की सेवा में संलग्न रहा है और एक संगठित समाज-सेवा संस्थान के रूप में इसे सर्वत्र स्वीकृति प्राप्त है। श्रीराम-कृष्ण स्वयं ही इसका बीज बो गये थे। वह घटना सर्वविदित है। स्वामी विवेकानन्द के मन में मानव-सेवा का भाव श्रीरामकृष्ण स्वयं ही प्रविष्ट करा गये थे। श्रीरामकृष्ण दुःखी मानव की दुर्दशा देख दुःखी हो जाया करते, कहते—जीव ही शिव है। कौन कहता है कि जीवों के प्रति दया दिखानी होगी ? दया नहीं, सेवा—मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा की श्रेणी में गिनी जाएगी। गुरुदेव की इन बातों ने विवेकानन्द के मन में एक आलोड़न ला दिया था और उन्होंने संकल्प किया कि अवसर मिलते ही वे इस निर्देश को कार्यरूप में परिणत करेंगे। श्रीरामकृष्ण रात-दिन घण्टे पर घण्टे असंख्य नर-नारियों के दुःख-दुर्गति की बातें सुना करते थे। लोग थोड़ी सान्त्वना और सहानुभूति के लिए, थोड़ी करुणा और प्रेम पाने को और अपनी निराशा के क्षणों में आशा की किंचित् किरण की उम्मीद में उनके

पास आते। एक बार विवेकानन्द ने जब श्रीरामकृष्ण से समाधि प्रदान करने का अनुरोध किया, तो श्रीरामकृष्ण ने उनकी भर्त्सना की थी, क्योंकि व्यक्तिगत जीवन में ईश्वर की प्राप्ति उनकी दृष्टि में जीवन की कोई सर्वोच्च उपलब्धि नहीं थी। उन्होंने स्वामीजी को एकांगी और स्वार्थपर होने से मना किया। उनकी अपेक्षा थी कि सर्वोच्च ज्ञान सर्वोच्च मानव-सेवा में प्रतिफलित हो।

यह बीज इससे अधिक उर्वर भूमि में बोना सम्भव नहीं हो सका था। विवेकानन्द के मन में यह भाव सदा जाग्रत् रहा। २६ मई १८९० ई.* को उन्होंने प्रमदादास मित्र के नाम इस विषय पर एक पत्र लिखा। भारत-भ्रमण के दिनों में, यहाँ तक कि अमेरिका-यात्रा के दौरान भी, यह विषय उनके मन में घर किये हुए था। धीरे-धीरे वह उनके मन में परिपक्व होता जा रहा था। २७ अप्रैल १८९६ ई.† को स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित पत्र में यह ठोस रूप लेकर उभरता दिखाई पड़ता है। इस पत्र में उन्होंने भावी संगठन के स्वरूप तथा नियम पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। यह पत्र एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है और स्वामीजी की संगठन-प्रतिभा, व्याव-हारिक ज्ञान, प्रज्ञा तथा दूरदृष्टि का एक उत्कृष्ट प्रमाण है।

तदुपरान्त आया वह ऐतिहासिक 'मई दिवस'। यह एक अलग प्रकार का 'मई दिवस' था। भारतवर्ष में एक स्थायी संघ की स्थापना की दृष्टि से यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस ऐतिहासिक 'मई दिवस' से हम अधिक सुपरि-

* देखें—'विवेकानन्द साहित्य', प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ३७३-७६।

† वही, खण्ड ४, पृ. ३९७-४०३।

चित हैं, वह १८९७ ई. के १ मई का दिन था। स्थान था— उत्तरी कलकत्ते के बागबाजार अंचल में स्थित बलराम बोस का मकान। मूल वक्ता थे स्वामी विवेकानन्द, अन्यान्य त्यागी संन्यासीवृन्द भी वहाँ उपस्थित थे, फिर श्रीरामकृष्ण के अनेक अनुरागी भक्त भी वहाँ आये हुए थे। अपने उस ऐतिहासिक और स्मरणीय व्याख्यान में स्वामीजी ने इस बात पर विशेष बल दिया कि वे जिस संघ की स्थापना का प्रस्ताव रख रहे हैं, उसमें अवश्यमेव रूप से निम्नलिखित उद्देश्य, आदर्श तथा कार्यप्रणाली रहेंगे—

(१) मानवमात्र के कल्याणार्थ श्रीरामकृष्ण जिस सत्य का प्रचार कर गये हैं, उसका प्रचार और अपने जीवन में उपयोग करना होगा।. . . इस सत्य को अपने जीवन में रूपायित कर जनजीवन की मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयास करना होगा।

(२) इस संघ के द्वारा विभिन्न धर्मों के अनुगामियों में जो एकमात्र अनादि और शाश्वत धर्म विद्यमान है, उसका प्रचार करना होगा।

(३) कार्यप्रणाली निम्नलिखित होगी—

(क) लोगों को ऐसे ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देनी होगी, जो जनता की व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होंगे।

(ख) कला और उद्योग को प्रोत्साहित करना होगा।

(ग) श्रीरामकृष्ण के जीवन में वेदान्त तथा अन्य धर्ममतों का जैसा स्वीकरण था, लोगों में उसका प्रचार तथा व्याख्या करनी होगी।

(४) विदेशों में इस संघ का कार्य होगा—भारतवर्ष का उन देशों के साथ सम्बन्ध और भी घनिष्ठ करना।

केवल भारत के ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वी के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द द्वारा इस संघ की स्थापना एक अभूतपूर्व घटना है। रामकृष्ण संघ की स्थापना करके स्वामी विवेकानन्द एक बड़े उत्तरदायित्व से मुक्त हो गये। चरम दारिद्रय एवं दुर्दशा की अवस्था में यदि किसी पर कोई दया प्रदर्शित करता तो उस पर श्रीरामकृष्ण के मन में कितनी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी, यह स्वामीजी ने स्वयं देखा था। श्रीरामकृष्ण कहते—"जीव पर दया! दया दिखानेवाले तुम कौन होते हो? स्वयं ही हतभागा होकर दूसरों पर तुम भला कैसे दया करोगे? नहीं, नहीं, दया नहीं—शिव-ज्ञान से जीव-सेवा।" स्वामीजी को ये शब्द सुनने को मिले थे। इनका आन्तरिक मर्म समझकर स्वामीजी ने संकल्प किया कि यदि ईश्वर ने कभी सुयोग दिया तो इस पृथ्वी के ज्ञानी-अज्ञानी, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी के बीच में इस सत्य का प्रचार करूँगा।

यहाँ पर रामकृष्ण मिशन की उत्पत्ति, आधार एवं उद्देश्य पर चर्चा करना उचित एवं प्रासंगिक होगा। ऐसी धारणा प्रचलित है कि भारत एवं पाश्चात्य देशों में 'संगठित सेवा-कार्य' ईसाई आदर्शों द्वारा प्रभावित है और उन्हीं आदर्शों से प्रभावित होकर स्वामी विवेकानन्द भी रामकृष्ण मिशन की स्थापना करने को प्रेरित हुए। इस प्रसंग में यहाँ विदेशी विद्वानों में से दो का उदाहरण दिया जा सकता है। सी. एच. हेमसैथ ने अपने 'Indian Nationalism and Hindu Social Reform' (भारतीय राष्ट्रीयतावाद और हिन्दू समाज-सुधार) ग्रन्थ में लिखा है कि

रामकृष्ण मिशन ने गहन मनन तथा समाज-सेवा की द्विविध भूमिका ग्रहण की थी। इनमें पहली थी—प्राचीन धर्मविश्वास तथा भक्ति को जगाना और, हेमसैथ के मतानुसार, दूसरी थी—पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार लोक-कल्याण एवं समाज-सेवा करना। रिचार्ड लैनाय अपने 'The Speaking Tree' (बोलता वृक्ष) ग्रन्थ में ऐसा संकेत देते हैं कि रामकृष्ण मिशन ईसाई विचारधारा से प्रभावित है और उनका ऐसा भी मत है कि हिन्दू धर्म एकेश्वरवाद की जिस ऐतिहासिक सर्वजनीनता के प्रचार में लगा है, वह भी पाश्चात्य मत का ही प्रभाव है।

सच पूछा जाय तो ये दृष्टिकोण भ्रान्तिपूर्ण हैं। रामकृष्ण मिशन की उत्पत्ति तथा उद्देश्य के बारे में हम पहले ही कह आये हैं। वहाँ पर ईसाई मतवाद के साथ रामकृष्ण मिशन के विचारों का मौलिक पार्थक्य स्पष्ट रूप से बताया गया है। संघ-गठन के बारे में स्वामीजी का अपना निजी दृष्टिकोण था। हाँ, यह बात और है कि वह पाश्चात्य देशों में भ्रमण के फलस्वरूप ही सम्भव हुआ था। उन्होंने अपने 'मई दिवस' के व्याख्यान में स्वयं ही यह बात स्पष्ट रूप से बतायी है। उस समय उन्होंने कहा था कि विभिन्न देशों में भ्रमण करने के बाद अब मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास जन्मा है कि संघ गढ़े बिना कोई महत् उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। यह भी सच है कि स्वामीजी जिस आदर्श को रूपायित करना चाहते थे, उसके बारे में उनके अपने ही कुछ गुरुभाइयों ने सन्देह व्यक्त किया था। स्वामी योगानन्द ने अपनी शंका को अभिव्यक्ति देते हुए पूछा था, "तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्रीरामकृष्ण ने क्या ऐसा कोई निर्देश दिया था?" इस पर स्वामीजी ने

तुरन्त ही जो उत्तर दिया था, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा था, "ठीक है, लेकिन तुमने कैसे जाना कि यह सब श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार नहीं है? उनके भीतर अनन्त उदारता एवं सहानुभूति थी। जीवन के सीमित विचारों को वे साहसपूर्वक असीम की ओर मोड़ देते थे। मैं सारी सीमाओं को तोड़कर सम्पूर्ण जगत् में उनके भावों का प्रचार करूँगा, चारों दिशाओं में उन्हें फैलाऊँगा।...सम्प्रदायों से भरे हुए विश्व में और एक नवीन सम्प्रदाय पैदा करने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है।" स्वामीजी इतना कहकर ही नहीं रुके, अपितु और भी कुछ कहने के बाद अपने उत्तर के अन्तिम भाग में वे स्वामी योगानन्द से बोले कि मैंने सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से भारतीय भूमि एवं जनता को देखा है और श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों की अनन्त परिधि की अपने जीवन में उपलब्धि की है। अपनी बात कहते-कहते स्वामीजी के भीतर ढँकी ज्वालामुखी का आवरण थोड़ी देर के लिए हट गया और वे भावावेग में कहने लगे—

"प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक न था, जब कौड़ीहीन होकर भी पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प था, तब श्रीगुरुदेव की कृपा से सदा मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने को शिकागो के रास्तों पर भीड़ धक्कमधक्का करने लगी और जिस सम्मान का शतांश प्राप्त करने से ही साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते

हैं, श्रीगुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी मैं सहज में पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय है। अब इस देश में कुछ कार्य कर जाऊँगा। तुम सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे उनकी इच्छा से सब पूर्ण हो जायगा।''*

यदि हम रामकृष्ण मिशन तथा ईसाई मिशनों के विचारों और लक्ष्य का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो दोनों के मूलभूत आदर्श और उद्देश्य में हमें अन्तर मिलेगा। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि ईसाई मिशनरियों की आस्था और कर्म में जो समवेदना के दबाव, कर्तव्यनिष्ठा, परोपकार, पापी की मुक्ति और धर्मान्तरण आदि पर जोर दिया जाता है, रामकृष्ण-विवेकानन्द के उपदेश तथा सामाजिक-धार्मिक तत्त्वज्ञान में उस सबका कोई स्थान नहीं है। कुछ ईसाई मिशनरियों के नाम ही उनके उद्देश्य को प्रकट कर देते हैं, यथा—ईसाई ज्ञान प्रसारक समिति, ईसाई सुसमाचार प्रचार समिति, बैप्टिस्ट मिशनरी समिति, लन्दन मिशनरी समिति, चर्च मिशनरी समिति, ब्रिटिश एवं विदेशी बाइबिल समिति, इत्यादि। नामकरण के द्वारा ही उनका उद्देश्य तथा लक्ष्य स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। उदाहरणार्थ—उनके मोरावियन सम्प्रदाय का सिद्धान्त है, "धर्मान्तरण मुक्ति के बारे में एक व्यक्तिगत आश्वासन के रूप में आता है, और इसके फलस्वरूप एक नया जन्म तथा पाप से छुटकारा मिल जाता है।" मेथॉडिस्ट लोग प्रचार करते हैं, "मानव दोषी है। ईसा मसीह का देहान्त हुआ। मुक्ति सम्भव है।" विलियम कैरी के प्रयासों से बैप्टिस्ट मिशनरी समिति

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ६, प्र.सं., पृष्ठ ४७।

की स्थापना हुई। उनकी एक पुस्तिका थी 'An Enquiry into the Obligations of Christians to Use Means for the Conversion of the Heathens', जिसमें इस बैप्टिस्ट मिशनरी समिति के उद्देश्य के बारे में लिखा था—"दरिद्र, काले, मूर्तिपूजक, अविश्वासियों के बीच मिशनरियों को भेजकर उन्हें ईसाई बनाना।" चर्च मिशनरी समिति के एक प्रचारक रिचार्ड ने विस्मयपूर्वक कहा था, "वह दिन कब आएगा, जब भारत हमारे महान् त्राता के सलीब के सम्मुख झुक जाएगा?" १८१७ ई. में लन्दन मिशनरी समिति के एक मिशनरी ने लिखा था, "हमने शत्रु के दुर्ग पर अपने सलीब का झण्डा फहरा दिया है।... हमने अपनी तलवारें निकाल रखी हैं और निश्चय किया है कि इस भारत देश में ईसा मसीह को उनके सिंहासन पर बैठाने में उनका उपयोग करेंगे।"

समकालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ईसाई मिशनरी संस्थाओं के क्रियाकलाप तथा उद्देश्यों का अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जाना चाहिए। ईसाई मिशनों तथा मिशनरियों की स्पष्ट सीमाओं तथा दुर्बलताओं के बावजूद उन्होंने भारतीय जीवन एवं चिन्तन के विविध क्षेत्रों में काफी महत्त्वपूर्ण तथा बहुमुखी योगदान किया है। यह देखा जाता है कि भारत तथा अन्य देशों में सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों के जो विभिन्न स्तर हैं, उनमें संशोधन या धर्म के अभियान को कोई स्थान नहीं है। फिर स्वयं श्रीरामकृष्ण ने ऐसे धर्माभियान की आलोचना की है। रामकृष्ण मिशन में किसी भी मण्डली, सम्प्रदाय या व्यक्ति की आलोचना को स्वामीजी स्वयं

दृढ़तापूर्वक निषिद्ध कर गये हैं। श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द दोनों की ईसा और उनके उपदेशों के प्रति गहरी श्रद्धा थी। रामकृष्ण मिशन के संन्यासी तथा अनुयायी ईसा को सत्य के एक आध्यात्मिक नेता के रूप में मानते हैं। फिर भी जानकर या अनजाने में फैलायी गयी इतिहासकारों की जो भ्रान्त धारणाएँ हैं, उनको चुनौती दी जानी चाहिए और उनका संशोधन करना चाहिए।

मदर टेरेसा तथा उनकी 'मिशनरीज ऑफ चैरिटी' संस्था भारतवर्ष तथा विदेशों में सहस्रों असहाय एवं पीड़ितों की महती सेवा करती है। उनका कहना है कि उन लोगों के भीतर वे ईसा की सेवा करती हैं। यहाँ स्मरणीय है कि स्वामी विवेकानन्द ने इसके कई दशक पूर्व भारतीय नवयुवकों का आह्वान करते हुए कहा था कि ईश्वर सर्वत्र और सबमें विद्यमान हैं और तुम लोग ईश्वर को "बीमार के भीतर, कुष्ठरोगी के भीतर और पापी के भीतर देखो।" श्रीरामकृष्ण ने महेन्द्रनाथ गुप्त को बताया था कि "यदि लोग ईश्वर को मानवीय रूप में देख सकें, तभी वे उनके प्रति भाई, बहन, पिता, माता अथवा पुत्र के रूप में प्रेम कर सकेंगे।" फिर उन्हीं श्रीरामकृष्ण ने यह भी कहा था, "यदि मैं एक व्यक्ति की भी सहायता कर सकूँ तो मैं बारम्बार, यहाँ तक कि कुत्ते के रूप में भी, जन्म लेने को प्रस्तुत हूँ।" तभी तो रोमाँ रोलाँ अपनी रामकृष्ण-जीवनी में पाठकों से कहते हैं, "देश और काल के भेद को छोड़ दें तो श्रीरामकृष्ण हमारे ईसा मसीह के अनुज ठहरते हैं।"

इतिहासकारों समेत अधिकांश लोगों को रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रभाव तथा महत्त्व के बारे में

विशेष जानकारी नहीं है। क्रिस्टोफर ईशरवुड के मतानुसार, "निश्चय ही यह हमारे काल का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म-आन्दोलन है," क्योंकि इसके प्रेरणा-स्रोत एक अद्भुत मानव हैं—"एक **phenomenon** हैं।" श्रीरामकृष्ण अध्यात्म-तत्त्व की सजीव प्रतिमूर्ति थे। इस भावधारा ने प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों गोलार्धों में समानता, सम्मान एवं आपसी समझ की एक नयी धारणा प्रदान की है। धर्म का मुखौटा लगाकर साम्राज्यवाद को लक्ष्य के रूप में रखकर सामान्यत: जो अकारण धर्मान्तरण या धर्म-परिवर्तन देखा जाता है, रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा ने वैसा कुछ नहीं किया और न करती है।

प्रो० शंकरी प्रसाद बसु ने अपने विशाल पर्वतकाय ग्रन्थ 'स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' के कई खण्डों में रामकृष्ण मिशन की स्थापना का ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट रूप से विवेचित किया है। कु. मार्गरेट ई. नोबेल (बाद में भगिनी निवेदिता) ने इस नव प्रतिष्ठित संगठन में निहित सम्भावनाओं के बारे में १ अक्तूबर १८९७ ई. को अपने एक पत्र में लिखा था, "व्यावहारिक कर्म तथा मानव-सेवा का आदर्श हमें विस्मित करता है और कोई यदि कुछ कहना चाहे तो इसी भाषा में कहेगा। मठ में ऐसा ही भ्रातृ-भाव है और उसका प्रसार तो हम अपनी आँखों से इँग्लैण्ड और अमेरिका में खुलनेवाली विभिन्न शाखाओं के रूप में देख ही रहे हैं . . .।" रामकृष्ण मिशन की संचालन-पद्धति की कुशलता और आत्म-प्रचार से पूर्णतया दूर रहकर संन्यासियों के नीरवतापूर्वक कार्य ने आश्चर्यजनक सफलता हासिल की है। प्रचार-विमुखता एक नया उदाहरण है और इसने उच्च श्रेणी के सरकारी

अधिकारियों को गहराई से प्रभावित किया है। देवघर (बिहार) के उपमण्डल अधिकारी श्री एच. एच. हर्ड ने अपने प्रतिवेदन में लिखा कि रामकृष्ण मिशन का कार्य इतने "उत्तम, नीरव और निःस्वार्थ भाव से" हो रहा है कि जब तक उनसे मिशन का कार्य देखने का अनुरोध नहीं किया गया था, तब तक उन्होंने उसके अस्तित्व के बारे में ही नहीं सुना था। उन्हें इस आन्दोलन की कार्यप्रणाली तथा संगठन ने सर्वाधिक प्रभावित किया। 'दि रिफार्मर' ने अपने १५ दिसम्बर १९०१ ई. के अंक में मिशन की "पूर्णतः असाम्प्रदायिक प्रकृति" के बारे में लिखा। 'दि नेटिव ओपीनियन' ने १२ जुलाई १९०० ई. को लिखा कि रामकृष्ण मिशन "मानवीय कष्टों को कम करने के लिए अत्यन्त व्यावहारिक ढंग से कार्य कर रहा है।" इस संवादपत्र के अनुसार मिशन "प्राच्य एवं पाश्चात्य आदर्शों के सम्मिलन का एक निदर्शन है।" धार्मिक लोगों की भूमिका को एक नयी दिशा प्रदान करने में स्वामी विवेकानन्द को जो अभूतपूर्व सफलता मिली थी, प्रमुख समाजशास्त्री जी. एस. घुर्ये ने उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन किया है। वे लिखते हैं, "(श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द) इन दो अति उन्नत एवं अनुभूतिसम्पन्न व्यक्तियों के सम्पर्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फल यह हुआ कि स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग के सबसे मौलिक एवं विशिष्ट संन्यासी में परिणत हुए।....उन्होंने संन्यास-जीवन के आदर्शों में भी पुनर्गठन एवं सुधार किया।"

रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा तथा रामकृष्ण मिशन के क्रियाकलापों ने नवयुवकों के मन पर गहरा तथा स्थायी राजनीतिक प्रभाव भी डाला था। यह एक

सर्वविदित तथ्य है कि स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लिया और वे यह भी नहीं चाहते थे कि मठ और मिशन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीतिक कार्यों में शरीक हों। स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् मिशन के संचालकों ने इसी नीति को अपनाये रखा और अपने केन्द्रों को भारतीय क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का आधार या आश्रय नहीं बनने दिया। फिर भी मिशन का कार्य एवं विचारधारा पुलिस तथा ब्रिटिश सरकार के लिए सिरदर्द बन गयी थी। मुख्य सचिव स्टिफेन्सन ने २ मार्च १९१७ ई. को अपनी गोपनीय रिपोर्ट में लिखा, "मेरे कहने का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि ये लोग रामकृष्ण मिशन के साथ अपने सम्पर्क के कारण विप्लववादी हैं, पर मुझे ऐसा लगता है कि बहुत से मामलों में विप्लववादी होने के कारण ही वे लोग मिशन से सम्बन्ध रखते थे।"* तदुपरान्त स्टिफेन्सन ने स्पष्टीकरण करते हुए लिखा था, "विवेकानन्द के उपदेश अपने आप में राजद्रोह भड़कानेवाले या क्षतिकारक नहीं हैं, परन्तु इन दिनों विप्लववादी विचारधारा में प्रवेश के लिए उन्हें प्राथमिक पाठ के रूप में मान्यता मिली हुई है।"† स्वामी विवेकानन्द

* "It is not for a moment suggested that these men are revolutionaries because of their connection with the Ramakrishna Mission, but I think there is reason to suppose that in many cases they belonged to the Mission because they were revolutionaries."

† "Vivekananda's teachings are in themselves (not) seditious or harmful. But they are at present recognized as the first step to initiation in revolutionary ideas."

द्वारा प्रचारित और रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रसारित 'रामकृष्ण परिवेश' ने स्टिफेन्सन जैसे अनुभवी अधिकारियों तथा टेगार्ट जैसे विशेष पुलिस अधीक्षक को चिन्ता में डाल दिया था। "रामकृष्ण मिशन की कीर्ति तथा समाज-सेवा के द्वारा विवेकानन्द की शिक्षाओं को जो सम्मान प्राप्त हुआ था", वे लोग उसी के बारे में चिन्तित थे। "आदर्शवाद पर आधारित समाज-सेवा तथा आत्मत्याग का रामकृष्ण परिवेश" ही युवा क्रान्तिकारियों को आकृष्ट करता था। उस तथाकथित 'लाल पुस्तक' में जिसमें टेगार्ट की रिपोर्ट तथा स्टिफेन्सन की टिप्पणियाँ दर्ज थीं, यह भी लिखा था कि क्रान्तिकारियों की भरती करनेवाले लोग "अपने क्रान्ति के बीज बोने से पूर्व जान-बूझकर रामकृष्ण परिवेश तैयार करने में लग जाते थे और जहाँ कहीं उन्हें पहले से ही प्रस्तुत परिवेश मिल जाता, वहाँ उनका कार्य अपेक्षाकृत सहज हो जाता था।" इस परिवेश की सृष्टि करना रामकृष्ण मिशन की एक बड़ी उपलब्धि थी, जो निर्भीक राष्ट्रवाद के विकास की गति को तो तीव्र करती ही थी, पर साथ ही सर्वांगीण राष्ट्रीय पुनरुत्थान एवं प्रगति की चाह को और भी गहरा करने में सहायक सिद्ध हुई थी।

रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों तथा असंख्य गृही कार्यकर्ताओं और सहायकों को स्वामीजी कर्म एवं कर्तव्य का एक बड़ा ही उदात्त पर व्यावहारिक आदर्श दे गये थे। स्वामीजी ने जो कुछ भी किया, उसके पीछे श्रीरामकृष्ण की शक्ति ही कार्य कर रही थी। श्रीरामकृष्ण स्वामीजी की प्रेरणा के स्रोत थे, उनके जीवनाधार थे। अपने गुरुदेव के नाम पर ही उन्होंने मिशन का नामकरण किया, फिर भी उन्होंने अपने गुरुभाइयों, शिष्यों तथा अनुगामियों को

"व्यक्ति के लिए नहीं, वरन् सिद्धान्त के लिए कार्य करने" की सलाह दी। उन्होंने इन लोगों को चेतावनी देते हुए तथा स्मरण दिलाते हुए कहा था, "पहले के धर्मसंस्थापकों की शिष्यमण्डली ने अपने आचार्य के व्यक्तित्व को उनके निर्देशित मार्ग के साथ इस प्रकार मिला दिया कि उन दोनों को अलग कर पाना असम्भव हो गया। फल यह हुआ कि अन्त में आचार्य के कारण ही वह भाव नष्ट हो गया।" स्वामीजी नहीं चाहते थे कि रामकृष्ण मिशन भी ऐसी गल्ती करे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सर्वत्र और सबमें ईश्वर की उपलब्धि करना ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आम लोगों को सलाह दी, "यदि चाहो तो सांसारिक इच्छाओं के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करो, पर उसमें दिव्यत्व का आरोपण करो, उसे ईश्वर-सुख में बदलने की चेष्टा करो, परस्पर सहायता, आनन्द तथा क्रियाशीलता के साथ दीर्घ जीवन की कामना करो।... ईश्वर सर्वव्यापी हैं, अतः उन्हें पाने के लिए हम और कहाँ जाएँगे? वे प्रत्येक कार्य; प्रत्येक विचार तथा प्रत्येक भाव में विद्यमान हैं।"

स्वामीजी ने अपने शिष्यों को कर्म के महत्त्व का बोध कराया, जिसके फलस्वरूप उनके अपने तथा अन्य संगठनों की नींव भी बड़ी पक्की हो गयी। किसी भी क्षेत्र या व्यवसाय में लगे निष्ठावान् कर्मियों को भी इससे काफी प्रेरणा मिली। स्वामीजी ने कहा, "किसी भी कार्य को हीन दृष्टि से न देखो।...किसी व्यक्ति का मूल्यांकन इस बात से नहीं किया जाना चाहिए कि वह क्या करता है, वरन् इससे कि वह किस भाव से करता है।...एक प्राध्यापक जो प्रतिदिन व्यर्थ की बकवाद करता है, की तुलना में

व्यवसाय तथा कार्य की दृष्टि से वह मोची कहीं बेहतर आदमी है, जो कम से कम समय में एक सुन्दर और मजबूत जूतों की जोड़ी बना लेता है।" श्रम के माहात्म्य की इतनी सहज पर सतेज व्याख्या बड़ी दुर्लभ है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति बन जाने के कुछ काल बाद ही जॉन एफ. केनेडी ने अपने देशवासियों से कहा था—यह न पूछो कि देश ने तुम्हारे लिए क्या किया है, बल्कि अपने आप से पूछो कि तुम अपने देश के लिए क्या कर सकते हो। केनेडी के व्याख्यान ने वहाँ की जनता को बड़ा प्रभावित किया था। अब तो वह उक्ति एक कहावत का रूप धारण कर चुकी है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द अपने देशवासियों को जो कुछ स्मरण रखने तथा पालन करने को अपनी सशक्त भाषा में कह गये हैं, उसकी हमें शायद ही कभी याद आती है। उन्होंने कहा था—

"सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमीं संसार के ऋणी हैं, संसार हमारा ऋणी नहीं। यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें संसार में कुछ कार्य करने का अवसर मिलता है।

"दूसरी बात यह है कि इस विश्व का अधिष्ठाता एक ईश्वर है। (वह सर्वत्र और सबमें विद्यमान है)।

"तीसरी बात यह है कि हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए। यह संसार सदैव ही शुभ और अशुभ का मिश्रणस्वरूप रहेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम दुर्बल के प्रति सहानुभूति रखें और एक अन्यायी के प्रति भी प्रेम रखें। यह संसार तो चरित्र-गठन के लिए एक विशाल नैतिक व्यायामशाला है।...

"चौथी बात यह है कि हममें किसी प्रकार का भी दुराग्रह नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुराग्रह प्रेम का विरोधी है।"*

पुन: एक उपमा देने का लोभ होता है। जनवरी १९४१ ई. में राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डिलेनो रूजवेल्ट ने चार प्रकार की स्वाधीनता को युद्ध के उद्देश्य कहकर घोषित किया था—बोलने की स्वाधीनता, पूजा की स्वाधीनता, अभाव से स्वाधीनता और भय से स्वाधीनता। ये चीजें लोगों के मन में घर कर गयी थीं। आज के विश्व में स्वामीजी की ये 'चार बातें' स्वीकृत होनी चाहिए और युद्ध-स्तर पर उनका पालन होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने इन मानवीय मूल्यों एवं निष्ठाओं के बीजारोपण तथा विकास के लिए और साथ ही उन्हें एक व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से ही रामकृष्ण मिशन की परिकल्पना तथा स्थापना की। मिशन का प्रादुर्भाव तथा चरित्र, मूलत: एवं आन्तरिक रूप से भारतीय था।

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ३; पृष्ठ ५४-५५।

विश्व धर्म सम्मेलन १८९३

रे० एच. आर. हेवीस

(रे० हफ रेगिनाल्ड हेवीस (१८३८-१९०१) चर्च ऑफ इँग्लैण्ड के एक पादरी थे। वे अपने समय के अत्यन्त लोकप्रिय उपदेशक थे तथा गहरी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न थे। अपने असाम्प्रदायिक और उदार विचारों के लिए वे प्रसिद्ध थे। शिकागो में १८९३ में हुए विश्व धर्म सम्मेलन में वे ऐंग्लिकन चर्च के अनौपचारिक प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। प्रस्तुत लेख उनकी पुस्तक 'ट्रेवल एंड टॉक' भाग १ के कतिपय उद्धरणों से बना है। यह रपट हाल ही में प्रकाश में आयी है और उस विश्व धर्म सम्मेलन का आँखों-देखा हाल प्रस्तुत करती है। —स०)

मेरी दूसरी समुद्र-यात्रा:—कनाडा की यात्रा करने के पश्चात्, ईस्टर्न यूनिवर्सिटियों को भेंट देने के बाद तथा बोस्टन में लॉवेल लेक्चर्स देने के उपरान्त मैं १८८५ में अमेरिका से इँग्लैण्ड वापस आ गया। पर मैं फिर से जाना चाहता था। मुझे एक पुकार की जरूरत थी। १८९३ में वह पुकार आयी। एक सुबह मुझे एक विचित्र सर्क्यूलर मिला—कमोबेश 'यूटोपियन' किस्म का। उसमें शिकागो के एक प्रिस्बिटेरियन पादरी रे० जॉन हेनरी बैरोज के दस्तखत थे।

शिकागो अपनी विशाल विश्व-प्रदर्शनी के लिए तैयार हो रहा था। बिना अतिशयोक्ति के, स्व० श्री बारनुम के शब्दों में, वह 'पृथ्वी का सबसे बड़ा प्रदर्शन' होनेवाला था।

डा० बैरोज को यह लगा कि ऐसे मौके पर यदि शिकागो के मध्यस्थल में 'विश्व धर्म सम्मेलन' का आयोजन किया जाय, तो वह उस विशाल विश्व व्यापार प्रदर्शनी का समुचित प्रतिपक्षी प्रदर्शन होगा, जो मिशिगन लेक के

तट पर शिकागो से सात मील दूर परीलोक में अपनी चीजों के प्रदर्शन के लिए आयोजित हो रही थी। उस निराले सम्मेलन में मैं एक ऐंग्लिकन प्रतिनिधि की हैसियत से आमंत्रित हुआ था। मैंने जाने का निश्चय किया।

यह एक नियम ही हो गया है कि जब कभी ईसाईगण अपने मतभेदों पर वाद-विवाद करने के लिए इकट्ठा होते हैं, तो आज भी वे लगभग लात-घूँसों पर उतर आते हैं; पहले तो वे एक दूसरे को जला दिया करते थे। किन्तु अन्त में यहाँ, शिकागो में, हमारे प्रभु के १८९३ सन् में, एक ईसाई की अध्यक्षता में हिन्दू, पारसी, चीनी, सिंहली, कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट इतिहास में पहली बार आपस म मिले—अपने मतभेदों पर विवाद करने के बदले अपने विश्वासों की घोषणा करने के लिए, अस्वीकार करने के बदले स्वीकार करने के लिए, विनाश करने के बदले निर्माण करने के लिए।

एक ऐसी धारणा उस समय प्रचलित थी कि विश्व-प्रदर्शनी के हित के संवर्धन के लिए ही धर्म की सहायता ली जा रही है। यद्यपि यह दृष्टिकोण ब्रिटिश पादरी के आत्मछल और अज्ञानता के वैशिष्टय के ही अनुरूप था, तथापि सबसे प्रबुद्ध और दूरदर्शी उपदेशक ने भी उन गरिमामय ऊँचाइयों की कल्पना न की होगी, जहाँ तक कि वह धर्म सम्मेलन उठनेवाला था। सम्भवत: अकेले पोप लियो-१३ ही ईसाई साम्राज्य के शासकों में ऐसे थे, जिन्होंने धर्म-सम्मेलन के महत्त्व का तथा रोमन कैथोलिक चर्च के उसमें समुचित प्रतिनिधित्व की आवश्यकता का सही आकलन किया था।

वास्तव में सात मील दूर आयोजित विशाल प्रदर्शनी

के साथ इस धर्म-सम्मेलन का कोई लेना-देना नहीं था। धर्म-सम्मेलन में व्यक्त किये गये विचार बिलकुल भिन्न वातावरण के थे और इससे औद्योगिक प्रदर्शनी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं था, केवल भीड़ को छोड़कर जो सम्मेलन के अधिवेशनों में छायी रहती थी।

इससे पहले कि वह प्रभावी दर्शन मेरे मानसपटल से धूमिल होकर मिट जाय, मैं उस स्मरणीय और दर्शनीय अधिवेशन की झलक अपने स्मृतिपटल पर लाना चाहता हूँ।

धर्मसम्मेलन:—विश्व-प्रदर्शनी से सात मील दूर, घोर जड़वादी शूकरमांस-सम्भारक, धन-आहरक शिकागो नगर के मध्य में कोलम्बस हॉल खुलता है, जिसमें दिन में तीन बार हॉल की ३,००० सीटों के लिए भीड़ टूट पड़ती है और दिन में हर बार सैकड़ों लोग सीट पाने से वंचित हो जाते हैं, और यह बिना किसी प्रकार कम हुए लगातार सोलह दिन चलता रहता है।

कोई एपिस्कोपल बिशप या प्रिस्बिटेरियन पादरी अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठा है। मैं मंच पर बैठा हुआ खिड़की से उस उमड़ती भीड़ को देखता हूँ, जो बाहर प्रतीक्षा कर रही है और कभी भीतर न घुस पाएगी।

एक संकेत हुआ और सारे दरवाजे बन्द हो गये और ३०-३० मिनट के आलेख और भाषण, एक के बाद एक, झट झट पढ़े और दिये जाने लगे—'यहूदियत का धर्म-दर्शन', 'हिन्दू धर्म', 'ईश्वर का अस्तित्व', 'अमरत्व' आदि विषयों पर। झाण्टे के आर्चबिशप, जो ढीली वेशभूषा में थे, ने ग्रीक चर्च पर भाषण दिया। कैथोलिक बिशप कार्डिनल गिब्बन्स ने दिखाया कि कैथोलिक चर्च किस

प्रकार मनुष्य की जरूरतों को पूरा करता है। वक्तृत्व के धनी और रहस्यवादी मजूमदार ने अति श्रेष्ठ अँगरेजी में ब्राह्मसमाज की यशोगाथा का बखान किया। डेमस्कस से आये आर्किमेंड्राइट जो शेखी बघारते रहे कि उन्होंने कभी एक पैसा तक खर्च नहीं किया, ने भी सभा को सम्बोधित ही नहीं किया, अपितु हर दिन पूरे समय सारी भाषणबाजी के बीच बैठे रहे—और कभी-कभी सोते हुए भी। कैनन फ्रीमैण्टल, प्रो० मैक्समूलर, प्रो० हेनरी ड्रमांड, लीमैन अब्बाट, डा० मॉमेरी तथा समस्त अमरीकन विश्वविद्यालयों के अग्रगण्य मनीषीगण—ये सब नाम ऐसे हैं, जिनसे पता चलता है कि धर्म-सम्मेलन को कितना जबरदस्त प्रतिनिधित्व और समर्थन मिला था। मंच पर स्थित प्राच्य-तत्त्ववेत्ताओं का समूह अपनी सिन्दूरी या नारंगी रंग की वेशभूषा और सफेद पगड़ियों में तथा सभ्य संसार में विख्यात वक्ताओं और उपदेशकों की गौरवमयी मण्डली अत्यन्त प्रभावी दृश्य प्रस्तुत कर रही थी सो तो ठीक है, पर उससे भी अधिक प्रभावी दृश्य शिकागो की इस भीड़ का था, जो दिन पर दिन दत्तचित्त से धर्म और दर्शन के गूढ़ तत्त्वों पर भाषण सुने जा रही थी।

सफलता के समान और कुछ सफल नहीं होता। हममें जिन लोगों ने इन उत्साहपूर्ण और गम्भीर अधिवेशनों में भाग लिया, उनमें सभी को ऐसा लगा कि शिकागो का यह धार्मिक प्रदर्शन एकता की अपनी समवेत पुकार और सहिष्णुता की व्यावहारिक योजना के द्वारा ईसाइयत के साम्राज्य पर अपनी छाप छोड़ जाएगा, जो प्रोटेस्टेंट सुधार द्वारा लाये गये नये अलगाव के अनुरूप कुछ-कुछ होगा, यद्यपि उसमें भिन्नता रहेगी।

सीलोन से आये वाग्मी धर्मपाल तथा भव्य वेशभूषा-वाले स्वामी विवेकानन्द की सूक्ष्म और तीखी उक्तियों को सुनकर बहुतों को ऐसा पहली बार बोध हुआ कि ईसा के पहले जो सब धर्मोपदेश हुए हैं, उनसे ईसाइयत म्लान नहीं हुई है, वरन् उस दैवी उत्स का पता चला है, जिससे ईसाइयत तथा अन्य सभी उदात्त और पवित्र धर्मभाव निःसृत हुए हैं।

ज्यों-ज्यों हम दिन पर दिन बैठकर विश्व के विभिन्न धर्मों के मान्य उपदेशकों को सुनते रहे, हमें यह स्पष्ट से स्पष्टतर अनुभव होने लगा कि सबके मूलभूत और स्थायी विचार सरल, शुद्ध और एक ही हैं तथा समस्त धर्म-प्रणालियों में अनुस्यूत हैं एवं उन्हें स्फूर्ति प्रदान करते हैं। ईश्वर, आत्मा, 'सैक्रिफाइस' (बलिदान), 'रेविलेशन' (दैवी सन्देश), 'डिवाइन कम्यूनियन' (दैवी समागम)—इनके बारे में सुनकर यह प्रतिदिन स्पष्टतर होने लगा कि ईसाइयत का आदर्श तथा ईसा मसीह का अपूर्व कार्य और व्यक्तित्व अनूठा है। कुछ बेसुरे स्वर भी सुने गये, पर उससे भ्रातृत्व का जो प्रमुख स्वर था, उसी को अधिक बल मिला। बोस्टन के रे० जोसेफ कुक, जिन्हें कुछ लोगों ने रे० 'कॉकस्योर' कुक की उपाधि दे डाली, ने अपनी 'क्रिश्चियन निश्चितताओं' की घोषणा करते समय अन्य सभी निश्चितताओं और धर्मों के प्रति हेय और उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। पर उसका कोई वजन न पड़ा—सिवाय उनकी अपनी धर्मान्धता के, जिसके वजन में वे स्वयं ही पिस गये। एक दूसरे सज्जन ने यह कहकर कि बहु-पत्नीत्व ऐसी कोई अक्षम्य बुराई नहीं है, श्रोताओं में आँधी ला दी। तिस पर भी उसे सुना गया और इसलाम

की निर्भीक सफाईगोईवाले उसके भाषण के अन्त में श्रोताओं ने जोरों से तालियाँ बजायीं।

लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द ने, जिनकी आकृति बुद्ध के क्लासिक मुखड़े से अत्यन्त साम्य रखती है, हमारी वाणिज्य-प्रगति, हमारे खूनी युद्ध और हमारी धार्मिक असंगति की निन्दा की और घोषित किया कि इस कीमत पर 'नरम हिन्दू' हमारी आत्मश्लाघी सभ्यता का कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहेगा। जब वे रोष में हाथ हिला-हिलाकर अपनी बात कह रहे थे, तो मुँह फेनिया रहा था और उनके द्वारा की जानेवाली 'नरम हिन्दू' शब्दों की बारम्बार लययुक्त आवृत्ति श्रोताओं पर जबरदस्त प्रभाव डाल रही थी। वे चिल्ला उठे, "तुम एक हाथ में बाइबिल और दूसरे में विजेता की तलवार लेकर आते हो,—तुम, जिसका धर्म कल का है, आते हो हमारे पास,—हम, जिन्हें हमारे ऋषियों ने हजारों बरस पहले पढ़ाया है—उन ऋषियों ने, जिनके उपदेश उतने ही उदात्त और चरित्र उतना ही पवित्र था, जितना ईसा मसीह का। तुम हमें रौंदते हो और अपने पैर के तले की धूल के बराबर गिनते हो। तुम प्राणियों के मूल्यवान् जीवन का नाश करते हो। तुम लोग मांसभक्षी हो, क्रूर हो। तुम हमारे लोगों को शराब पिलाकर नीचे गिराते हो। हमारी महिलाओं का अपमान करते हो। हमारे धर्म से नफरत करते हो—जो कई बातों में तुम्हारे धर्म के ही समान है और यही क्यों, कहीं उससे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अधिक मानवीय है। और तुम्हें अचरज होता है कि भारत में ईसाइयत की प्रगति इतनी धीमी कैसे है। मैं कहता हूँ इसका कारण यह है कि तुम अपने ईसा के समान नहीं हो।

ईसा को हम अपना आदर और श्रद्धा दे सकते थे। क्या तुम सोचते हो कि यदि तुम हमारे दरवाजे ईसा के समान विनयी और निरभिमानी बनकर, प्रेम का सन्देश लेकर आते—उनके समान दूसरों के लिए जीते, काम करते और कष्ट पाते हुए आते, तो हम तुम्हारी बात न सुनते? अर नहीं! हम तो उनकी वैसी ही अगवानी करते और उन्हें सुनते, जैसा कि हमने अपने अनुप्रेरित ऋषियों के प्रति किया है।" मैं तो विवेकानन्द के व्यक्तित्व को सर्वाधिक प्रभावी और उनके भाषण को चूड़ान्त वाग्मिता से परिपूर्ण मानता हूँ, जिससे वह महान् सम्मेलन गरिमामय बना। यह अपूर्व व्यक्ति १८९५ के शरद काल में इँग्लैण्ड में आया और यद्यपि वे नितान्त कर्मविरत जीवन बिता रहे थे, फिर भी उन्होंने बड़ी संख्या में लोगों को अपने निवासस्थल की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने सर्वत्र अपनी बड़ी गहरी छाप छोड़ी। वे धन के प्रति नितान्त उदासीन थे और केवल विचार में ही जीते थे। जो कुछ उन्हें दिया जाता, मात्र उतना ही लेते और जब कुछ न मिलता, तो उसी से सन्तुष्ट रहते, फिर भी ऐसा न लगता कि उन्हें किसी बात की कमी है। वे दिन पर दिन विश्वास में ही जीते और जो भी उनके पास सीखने की इच्छा लेकर आता, उसे वे बिना किसी शुल्क या पैसे के योग का विज्ञान सिखाते। उनकी चमकदार नारंगी वेशभूषा और सफेद पगड़ी मन में बरबस उन राजसी मैजियनों की स्मृति उठा देती, जो दिव्य शिशु यीशु के जन्मस्थल में पहुँचे थे। उस सम्मेलन में प्राच्यविद्याविशारदों ने प्रशंसनीय रूप से एक दूसरे का समर्थन किया—केवल मंचीय दृष्टि से नहीं, बल्कि एक विवादास्पद दृष्टिकोण से भी।

बौद्ध भिक्खु धर्मपाल, जो सफेद वेशभूषा में थे और जिनके केश घने काले थे, विवेकानन्द के बाद आये और उन्होंने भी उसी प्रकार मिशनरियों की निन्दा करते हुए भाषण दिया। यह सुनकर चीनी लिबास पहने हुए एक सज्जन सामने आये। वे एक अँगरेज मिशनरी थे, जिन्होंने अपने वर्ग के समर्थन में बड़ी कुशलता और जोश के साथ भाषण दिया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि ये मिशनरी उन मिशनरी समितियों की अपेक्षा बहुत प्रगतिशील हैं, जो उन्हें भेजते हैं। ये समितिवाले बहुधा संकीर्ण और असहिष्णु होते हैं, पर सच्चा ईसाई मिशनरी उन देशों के धर्मों का सम्मान करना जानता है और वह उनकी निन्दा करने नहीं जाता बल्कि यह बताने जाता है कि उनके अपने धर्म में विधायक बातें क्या हैं; वह तो लोगों को सहायता देने जाता है, जिससे वे अधिक अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकें और अपने जीवन को श्रेष्ठतर बना सकें। उनका वर्ग, उन्होंने आगे कहा, कोई मूर्खों और जाहिल अलालों का नहीं है, जैसा कि चित्रित किया गया, बल्कि ऐसे लोगों का है जो भगवान् को डरते हैं और स्वार्थ-त्यागी हैं।

सभी प्राच्यविद्याविशारदों ने शिकागो के शूकर-कसाइयों पर विशेष रूप से तथा मांसभक्षण पर सामान्य रूप से तीव्र कटाक्ष किये। "यदि तुम जीवन नहीं दे सकते," मजूमदार ने कहा, "तो कम से कम करुणा के लिए जीवन लो मत।" पर वे लोग शूकरमार, कबाब-गुलमाप्रिय शिकागो को अपनी बात के कायल नहीं कर सके।

पर समूचे तौर पर संसार को विश्व धर्म सम्मेलन का सन्देश यह रहा—उन सबके लिए शान्ति, जो समीप हैं और उनके लिए भी, जो दूर हैं।

वास्तव में, अब तो सब धर्मों के सारभूत एकत्व की उद्घोषणा का समय है—उनका संघर्ष केवल दुर्घटना के कारण होता है। 'टूटे हुए प्रकाश' उस सच्चे प्रकाश के साक्षी हैं, जो संसार में आनेवाले हर मनुष्य को प्रकाशित कर देता है—नहीं, बल्कि वे उस प्रकाश के उसी प्रकार अंग हैं जैसे कि समपार्श्व (प्रिज्म) में दिखनेवाले रंग सूर्य-प्रकाश के अंग होते हैं। अब से यीशु को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि उनसे पूर्व जितने आचार्य हो गये हैं उनको अस्वीकार करना आवश्यक नहीं है, और ईसाइयत को अपनाने का अर्थ यह सिद्धान्त मानना नहीं होगा कि दुनिया के अन्य भागों में प्रचलित धर्म मिथ्या हैं।

अन्त में, पर कम महत्त्वपूर्ण नहीं, मनुष्य भले ही एक समान न सोच सकते हों या विश्वास न कर सकते हों, पर वे एक साथ अनुभव तो कर सकते हैं; भले ही 'प्रशासन में भिन्नता' हो सकती है पर फिर भी 'भाव एक समान' रह सकता है। मनुष्य का भ्रातृत्व सभी 'वादों' से ऊपर उठ जाता है, वैसे ही जैसे ईसा ईसाइयत से बड़े हैं और धर्म गिरजाघरों से।

शिकागो से आनेवाली ये कुछ आवाजें हैं, जिन्हें दुनिया की कोई नफरत हतोत्साहित नहीं कर सकती और गिरजा-घर की कोई उपेक्षा दबा नहीं सकती।

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (११)

काशीपुर में निवास करते समय तथा उपसंहार

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवनमें घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा The Visions of Sri Ramakrishna नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। यह इस लेखमाला की अन्तिम किस्त है।—स०)

अब आता है काशीपुर उद्यान भवन का दृश्य। श्यामपुकुर को छोड़कर श्रीरामकृष्ण ११ दिसम्बर १८८५ को वहाँ आये। डा० सरकार का मत था कि उन्हें नगर से बाहर की ताजा और शुद्ध वायु की आवश्यकता है, और यही उनके स्थानान्तरण का प्रमुख कारण था। इस प्रकार वे अपने जीवन के अन्तिम आठ महीने इस खुले उद्यान, विशाल भवन तथा आसपास की दृश्यावली का आस्वादन कर सके थे। यह भवन कलकत्ते से तीन मील उत्तर की ओर बागबाजार से वराहनगर जानेवाली सड़क पर, उसके पूर्व में, अवस्थित था। वहाँ पर विविध हृदयों के बीच जो दृढ़ बन्धन स्थापित हुआ, वह बाद में चलकर रामकृष्ण मठ एवं मिशन की स्थापना में परिणत हुआ—इस कारण तथा श्रीरामकृष्ण की अन्तिम लीला के फलस्वरूप वह स्थान आज एक तीर्थक्षेत्र बन गया है (अब उक्त संस्था ने इस उद्यान भवन को खरीद लिया है और इस प्रकार उस ऐतिहासिक भवन को सुरक्षित बना दिया है)।

श्रीरामकृष्ण की पीड़ा क्रमशः तीव्रतर होती जा रही

थी। उनका भोजन द्रव के रूप में ही हुआ करता। चिकित्सकों ने यद्यपि उस रोग को कैंसर कहकर असाध्य करार दिया था, तथापि कुछ भक्तों का विश्वास था कि यदि ठाकुर जगदम्बा से प्रार्थना करें तो बीमारी ठीक हो सकती है। उनका उत्तर अद्भुत था—"क्या कहा ? इस मन को जो अब भगवान् के पादपद्मों में पूर्णतः समर्पित हो चुका है, लौटाकर इस तुच्छ शरीर पर लगाऊँ ?" बाकी वार्तालाप इस प्रकार हुआ:—

भक्तगण—"महाराज, और नहीं तो हमारे लिए ही इस बीमारी को दूर कर लीजिए।"

ठाकुर—"क्या तुम लोग सोचते हो कि मैं इस प्रकार कष्ट उठाना चाहता हूँ ? मैं तो निरोग होना चाहता हूँ, पर भला क्या कर सकता हूँ ? सब कुछ माँ की इच्छा पर निर्भर है।"

नरेन्द्र—"फिर आप निरोग होने के लिए माँ से प्रार्थना कीजिए, वे आपकी बात अवश्य मान लेंगी।"

ठाकुर—"तेरे लिए ऐसा कह देना आसान है, पर मैं ऐसी प्रार्थना नहीं कर सकता।"

नरेन्द्र—"नहीं, आपको हमारे लिए माँ से ऐसा कहना ही होगा।"

ठाकुर—"ठीक है, कोशिश करूँगा।"

कुछ घण्टों बाद नरेन्द्र ने पुनः वही प्रसंग उठाया।

ठाकुर—"मैंने माँ से कहा, 'माँ, मैं इस पीड़ा की वजह से कुछ भी नहीं खा पाता, ऐसा उपाय कर जिससे थोड़ा-सा तो खा लिया करूँ।' इस पर माँ ने तुम लोगों की ओर इशारा करते हुए कहा, 'क्यों ? तू इतने मुँहों से

खा तो रहा है !' इस पर मैं लज्जित होकर और कुछ न कह सका ।"[१]

इन घटनाओं के बारे में सोचकर हम जगदम्बा की वाक्चातुरी पर विस्मित और मुग्ध रह जाते हैं ।

काशीपुर उद्यानभवन की दूसरी मंजिल के एक बड़े कमरे में श्रीरामकृष्ण का निवास था । नीचे की एक छोटी कोठरी में माताजी रहा करती थीं । श्यामपुकुर में उनके निवास की तुलना में यह कमरा काफी अच्छा था । वे इतने लोगों के भोजनादि एवं अन्य व्यवस्थाओं को लेकर दिन-रात व्यस्त रहा करतीं । उन्हें यह लगने लगा था कि ठाकुर अब लीला-संवरण करने की तैयारी कर रहे हैं । वे उनके रोग के निवारणार्थ दैवी-प्रतिकार के लिए एक प्रसिद्ध मन्दिर में गयीं और वहाँ जाकर व्रत तथा जागरण किया । उन्हें समाधान तो न मिला, पर एक दर्शन हुआ, जो उनकी आशाओं से बिल्कुल भिन्न था । उनके लौटने पर श्रीराम-कृष्ण ने उन्हें अपने एक स्वप्न की बात बतायी, जो उनके मात्र दो लिपिबद्ध स्वप्नों में से एक है । उन्होंने देखा कि एक हाथी उनके लिए दवा लाने को गया है और इसके लिए धरती खोद रहा है । अचानक गोपाल (शिशु कृष्ण) ने उन्हें जगा दिया । फिर उन्होंने माताजी से पूछा, "तुम्हें भी ऐसा कोई स्वप्न आया है क्या ?" श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "मैंने माँ-काली को देखा, वे अपना गला एक ओर को टेढ़ा किये हुए थीं । मैंने उनसे उनके इस प्रकार खड़ी रहने का कारण पूछा तो उत्तर मिला, 'उसके उस रोग के कारण

---

१. 'Life of Sri Ramakrishna', अद्वैत आश्रम, मायावती, १९२५, पृ० ७३० ।

मुझे भी हुआ है ।" ठाकुर ने जब उन्हें बताया कि अब उनका मन सतत ब्रह्म में लीन रहा करता है, तो माताजी रोने लगीं ।[२] एक बार जब श्रीमाँ उन्हें पतली खीर खिला रही थीं, तब वे स्वयं ही रोते हुए कहने लगे, "क्या यही मेरा अन्तिम दिनों का पायस खाना है, और इतने कष्टपूर्वक !" कुछ काल पूर्व उन्हें दर्शन मिला था कि अन्तिम दिनों में यही उनका भोजन होगा ।[३]

माताजी के प्रति कही गयी उपर्युक्त बातों की ही मानो पुष्टि करते हुए एक दिन सन्ध्या को उन्होंने धीमी आवाज में श्री 'म' से कहा था, "देखो, अब विशेष ध्यान आदि मुझे नहीं करना पड़ता । अखण्ड का एकदम ही बोध हो जाता है । ब्रह्मदर्शन निरन्तर ही चलता रहता है ।" २३ दिसम्बर को उन्होंने पुनः श्री 'म' से कहा कि उनकी लोकशिक्षा अब बन्द हो रही है, अब वे और अधिक उपदेश नहीं दे पाते; क्योंकि वे सब कुछ जब राममय देख रहे हैं तो उपदेश भी भला किसको दें ? तदुपरान्त वे समाधि में डूब गये । भाव का उपशम होने पर वे कह रहे हैं, "मैंने देखा, साकार से सब निराकार में जा रहे हैं । और भी सब बातें कहने की इच्छा हो रही है, परन्तु कहने की शक्ति नहीं है । अच्छा, यह निराकार की ओर झुकाव केवल लीन होने के लिए है न?...अब भी देख रहा हूँ, निराकार अखण्ड सच्चिदानन्द—ठीक इसी तरह...परन्तु बड़े कष्ट से मुझे भाव-संवरण करना पड़ रहा है ।"[४]

२. 'Holy Mother', पृ० ९२ ।

३. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, तृ. सं., प. ४७३ ।

४. वही, पृष्ठ ४७० ।

उस वर्ष के मार्च में उनका कष्ट इतना बढ़ गया कि भक्तगण उनकी ओर देख तक न पाते, पर ऐसी अवस्था में भी उन्होंने गिरीश से कहा, "बहुत से ईश्वरीय रूपों को देख रहा हूँ। उनमें एक यह रूप भी (अपने रूप को) देख रहा हूँ।[५] (बाद में अवश्य ही लीला-संवरण के ठीक पहले उन्होंने संशयापन्न नरेन्द्रनाथ से कहा था, 'जो राम-रूप में आये थे, कृष्ण-रूप में आये थे, वे ही अब इस रामकृष्ण-शरीर में हैं—पर तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।') अगले दिन १५ तारीख को वे थोड़ा बेहतर महसूस कर रहे थे। भक्तों के साथ कभी वे धीमे स्वर में तो कभी इशारे से बातचीत करते। उस दिन प्रातःकाल की बातचीत हमारे इस अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अतः हम उसे यहाँ पर उद्धृत कर रहे हैं—

श्रीरामकृष्ण—"क्या देख रहा हूँ?—सुनो, सब वे ही हुए हैं। मनुष्य और जिस-जिस जीव को मैं देख रहा हूँ, मानो सब चमड़े के बने हुए हैं। उनके भीतर से वे हाथ, पैर और सिर हिला रहे हैं। जैसा एक बार मैंने देखा था—मोम का मकान, बगीचा, रास्ता, आदमी, बैल—सब मोम के—सब एक ही चीज के बने हुए थे। देखता हूँ, वे ही बलि हैं, वे ही बलि देनेवाले हैं तथा वे ही बलि का खम्भा हैं।" यह कहते-कहते भाव में विभोर हो रहे हैं। वे ईश्वर की उस व्यापकता का अनुभव करते हुए कह रहे हैं, "अहा! अहा!" फिर वही भावावस्था हो गयी। श्रीरामकृष्ण का बाह्य ज्ञान चला जा रहा है। प्रकृतिस्थ होने पर वे पुनः कह रहे हैं, "अब मुझे कोई कष्ट नहीं है। बिलकुल पहले-जैसी अवस्था है।" श्रीरामकृष्ण की इस दुःख और

५. वही, पृष्ठ ४८७।

सुख से अतीत अवस्था को देखकर भक्तों को आश्चर्य हो रहा है। लाटू की ओर देखकर श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं, "यह लाटू है। सिर पर हाथ धरे बैठा है। मैं देख रहा हूँ, वे ही (ईश्वर ही) सिर पर हाथ रखे बैठे हुए हैं।" श्रीरामकृष्ण भक्तों की ओर देख रहे हैं और स्नेहार्द्र हो रहे हैं। शिशु को जिस तरह प्यार किया जाता है, उसी तरह वे राखाल और नरेन्द्र के प्रति स्नेह-भाव दिखला रहे हैं—उनके मुख पर हाथ फेर रहे हैं।

कुछ देर बाद वे मास्टर से कहते हैं, "शरीर अगर कुछ दिन और रहता तो बहुत से लोगों में आध्यात्मिकता की जागृति हो जाती।" इतना कहकर वे चुप हो रहे। वे पुनः कह रहे हैं, "पर अब यह न होगा—अब यह शरीर न रहेगा। इस शरीर को अब वे (ईश्वर) न रहने देंगे, इसलिए कि मैं सरल और मूर्ख कहीं सभी को सब कुछ दे न डालूँ। कलिकाल में लोग तो ध्यान और जप से घृणा करते हैं।"

राखाल (सस्नेह)—"आप उनसे कहिए जिससे आपका शरीर रहे।"

श्रीरामकृष्ण—"वह ईश्वर की इच्छा।"

नरेन्द्र—"आपकी इच्छा और ईश्वर की इच्छा दोनों एक हो गयी हैं।"

श्रीरामकृष्ण कुछ देर चुप हैं, मानो कुछ सोच रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण (नरेन्द्र और राखाल आदि से)—"और कहने से भी क्या होगा? अब देखता हूँ एक हो गया है। ननद के भय से राधिका ने श्रीकृष्ण से कहा, 'तुम हृदय के भीतर रहो।' जब फिर व्याकुल होकर श्रीकृष्ण

को उन्होंने देखना चाहा—ऐसी व्याकुलता कि कलेजे में जैसे बिल्ली खरोंच रही हो—तब श्रीकृष्ण हृदय से बाहर निकले ही नहीं !"

भक्तगण चुपचाप बैठे हुए हैं। श्रीरामकृष्ण भक्तों को स्नेहभरी दृष्टि से देख रहे हैं। कुछ कहने के लिए उन्होंने अपनी छाती पर हाथ रखा।

श्रीरामकृष्ण—"इसके भीतर दो व्यक्ति हैं। एक हैं जगन्माता—।"

भक्त उनकी ओर उत्सुक होकर देख रहे हैं, सोच रहे हैं, अब वे क्या कहेंगे।

श्रीरामकृष्ण—"हाँ, एक वे हैं, और दूसरा है उनका भक्त, जिसका हाथ टूट गया था। वही अब बीमार है। समझे ?"

भक्तगण चुपचाप सुन रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण—"किससे कहूँ, और समझेगा भी कौन ?"

कुछ देर बाद वे फिर बोले, "वे मनुष्य का आकार धारण करके, अवतार लेकर, भक्तों के साथ आया करते हैं। उन्हीं के साथ फिर भक्तगण चले भी जाते हैं।"

राखाल—"इसीलिए कहता हूँ कि आप हम लोगों को छोड़कर चले मत जाइएगा।"

श्रीरामकृष्ण मुसकरा रहे हैं, कहते हैं, "बाउलों का दल एकाएक आया, नाच-कूदकर गाया-बजाया और एकाएक चला गया। आया और गया, परन्तु किसी ने

६. वही, पृष्ठ ४८८-९०।

पहचाना नहीं।"

हीरानन्द नामक एक युवक उनके काफी प्रिय थे। वे अप्रैल में उनसे मिलने को आये। उनका दर्शन करने को वे सिन्ध प्रदेश में अवस्थित अपने स्थान से काफी रास्ता तय करके वहाँ पहुँचे थे। आपस में वार्तालाप करते हुए श्रीरामकृष्ण ने श्री 'म' से कहा, "वायु कब चढ़ गयी मुझे मालूम भी नहीं हुआ। इस समय बालकभाव है; इसीलिए फूल लेकर इस तरह किया करता हूँ। क्या देख रहा हूँ, जानते हो? शरीर मानो बाँस की कमानियों का बनाया हुआ है और ऊपर से कपड़ा लपेट दिया गया है। वही मानो हिल रहा है। भीतर कोई है इसीलिए हिल रहा है। जैसे बिना बीज और गूदे का कद्दू। भीतर कामादि आसक्तियाँ नहीं हैं, सब साफ है। और—।" श्रीरामकृष्ण को बातचीत करते हुए कष्ट हो रहा है। बहुत ही दुर्बल हो गये हैं। वे क्या कहने जा रहे हैं इसका अनुमान लगाकर मास्टर शीघ्र ही कह उठे, "और भीतर आप ईश्वर को देख रहे हैं।"

श्रीरामकृष्ण—"भीतर-बाहर दोनों जगह देख रहा हूँ—अखण्ड सच्चिदानन्द। सच्चिदानन्द इस शरीर का आश्रय लेकर इसके भीतर भी हैं और बाहर भी। यही मैं देख रहा हूँ।"

मास्टर और हीरानन्द यह ब्रह्मदर्शन की बात सुन रहे हैं। कुछ देर बाद श्रीरामकृष्ण उनकी ओर सस्नेह दृष्टि करके बातचीत करने लगे।

श्रीरामकृष्ण—"तुम लोग आत्मीय जान पड़ते हो। कोई दूसरे नहीं मालूम पड़ते। सबको देख रहा हूँ, एक-एक गिलाफ के अन्दर रहकर सिर हिला रहे हैं। देख रहा हूँ, जब उनसे मन का संयोग हो जाता है, तब कष्ट एक

ओर पड़ा रहता है।

"अब मैं केवल यही देख रहा हूँ कि अखण्ड सच्चिदानन्द ही इस त्वचा से ढका हुआ है और इसी में एक ओर यह गले का घाव पड़ा है।"

मई से लेकर श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के दिन—१५ अगस्त—तक 'वचनामृत' भी मौन रह जाता है। १५ अगस्त को, अथवा पाश्चात्य गणना-पद्धति के अनुसार १६ अगस्त को, अर्धरात्रि के पश्चात् १ बजकर २ मिनट पर श्रीरामकृष्ण इस नश्वर जगत् को त्यागकर महासमाधि में लीन हुए—अपने उद्‌गम स्थान में, जगन्माता के पास लौट गये। उनकी लीला का अवसान हो गया। श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था, "मैंने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग सभी तरह की साधनाएँ की हैं। यहाँ तक कि मैंने हठयोग की क्रियाएँ भी की हैं। जितने मत उतने पथ—और मैंने उन सबको देख लिया है। परन्तु अब मुझे उनमें आनन्द नहीं आता; वे सभी आपस में झगड़ते हैं. . .। अब अन्त में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ईश्वर पूर्ण हैं और मैं अंश हूँ; वे प्रभु हैं, मैं दास हूँ। फिर कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वे मैं हैं और मैं वे हूँ।"

उपसंहार

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शनों का संकलन आरम्भ करते समय हमने यथासम्भव एक मनोवैज्ञानिक के समान विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाने का निश्चय किया था। पाठकों को स्मरण होगा कि पिछले पृष्ठों में प्रत्येक घटना के साथ हमने ऐसी सब जानकारी प्रस्तुत की है, जो हमें उपलब्ध हो सकी और जो हमें यह बताती है कि उक्त दर्शन

के समय श्रीरामकृष्ण कहाँ थे, क्या कर रहे थे—बैठे थे, खड़े थे या टहल रहे थे आदि; उनकी आँखें खुली थीं या बन्द, वे कितने काल तक उक्त अनुभूति में तन्मय रहे, दिन का कौन-सा समय था, तथा वह दर्शन ईश्वर के कौन से पक्ष से सम्बन्धित था, आदि। जहाँ कहीं भी यह विदित हो सका कि मूर्ति का प्रकार क्या था और ठाकुर के ऊपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, वर्णन में हमने उसे भी जोड़ा है। ऐसी प्रस्तुति का एक कारण तो यह है कि सम्भव है इन सबसे एक तरह का ढाँचा मिल जाय, बाह्य परिस्थितियों के साथ आन्तरिक अनुभूति का कोई सम्बन्ध दीख पड़े या फिर किसी विशेष मनःस्थिति का संकेत मिल सके, जिसने श्रीरामकृष्ण के मन को इस विशेष प्रकार की अतीन्द्रिय अनुभूति के लिए प्रवृत्त किया।

अब जब सभी तथ्य एक ही स्थान पर उपलब्ध हैं, हम न्यायपूर्वक कह सकते हैं कि ऐसा कोई भी ढाँचा या आपसी सम्बन्ध पकड़ में नहीं आया। यह सत्य है कि उनके अधिकांश वर्णित दर्शन रात की अपेक्षा दिन के समय हुए थे, परन्तु उसका एक आंशिक कारण कम से कम यह हो सकता है कि दिन के समय उनके पास ऐसे लोग थे, जिनके समक्ष उनका वर्णन किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त एक दिन उन्होंने स्वामी सारदानन्द से कहा था, "अकेले, रात के अन्तिम पहर में, जब मैं तुम लोगों की कल्याण-चिन्ता करता हूँ, उस समय माँ (श्रीजगदम्बा) सभी बातें बता तथा दिखा देती हैं—किसकी कितनी उन्नति हुई है, किस कारण से किसकी (धर्मविषय में) उन्नति नहीं हो

७. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग ३, पृ. ११६।

रही है, इत्यादि।"[७] इसके अतिरिक्त, उनके लेटे रहने की अवस्था में दर्शन पाने के अधिक उदाहरण नहीं मिलते, जबकि दूसरी ओर श्री 'म' अपने ग्रन्थ में बहुधा कहते हैं कि ठाकुर अचानक उठ खड़े हुए तथा समाधि में डूब गये। फिर यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण को कहीं भी, किसी भी समय, समाधि लग जाया करती थी, चाहे वे उस समय माँ-काली का ध्यान कर रहे हों, या चिड़ियाघर में सिंह देख रहे हों, या गाड़ी में सवार हों, अथवा झाऊतला में दिशा-मैदान को जा रहे हों। उनकी अनुभूति की सीमा में सभी प्रकार के बिम्ब प्रकट हुआ करते थे, यद्यपि उनमें दृश्य एवं श्रव्य अनुभूतियों का प्राधान्य था। अपने वर्णित दर्शनों के आधार पर वे प्रायः प्रमुख भारतीय देवी-देवताओं के सम्पर्क में आये प्रतीत होते हैं। कौन जानता है कि उन्होंने और भी जाने कितने रूप देखे होंगे, जिनके बारे में उन्होंने कुछ भी न कहा? उनकी समाधियाँ कुछ क्षणों से लगाकर दिनों तथा सप्ताहों तक चला करती थीं। जरा-सा भी उद्दीपन, चाहे वह आध्यात्मिक हो या जिसे हम जागतिक कहते हैं वैसा हो, उन्हें ऐसे भाव में डुबा देता था, जहाँ से उनके मन को एक विशिष्ट उपाय द्वारा ही अधिक आसानी से निकाला जा सकता था।

श्रीरामकृष्ण के मन की यह अद्भुत संचरणशीलता (अर्थात् विविध आध्यात्मिक उद्दीपनाओं के द्वारा क्षण भर में ही ऊँचाइयों तक उठ जाना) बाल्यकाल से ही उनकी खासियत थी। आयु बढ़ने के साथ-साथ मन को नीचे सामान्य धरातल पर रखने में कठिनाई निरन्तर बढ़ती ही गयी। अतः श्रीरामकृष्ण के मन का कालक्रमानुसार

विवरण भी उसके विकास के स्तरों को बता पाने में सक्षम नहीं प्रतीत होता, जैसा कि हम अन्य साधु-सन्तों की जीवनी से उम्मीद कर सकते हैं। संट जॉन ऑफ क्रॉस की अपनी 'अँधेरी रात' है, संट टेरेसा को एक बार आध्यात्मिक चेतना का जल अपनी गरदन तक आ पहुँचा-सा महसूस होता है, ध्यानपरायण लोग आत्मिक क्षेत्र की मिट्टी में अपना हल गहरे से गहरा ही चलाये जाते हैं। यद्यपि ठाकुर के मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन में एक ऐतिहासिक क्रम है, परन्तु ऐसी अनेक चीजें जो एक सन्त का जीवन-इतिहास बनाती हैं, ठाकुर के जीवन के प्रारम्भ में ही घट चुकी थीं, या फिर सर्वथा अनावश्यक थीं। हम जो कुछ पकड़ पाते हैं, वह यह है कि उनकी अनुभूतियाँ सूक्ष्म और असाधारण किस्म की थीं, जिनका विश्लेषण लगभग असम्भव-सा है। यहाँ हमें एक ऐसे नाटक का बोध होता है, जिसका अभिनय तो पहले हो गया हो और वेशभूषा में सजकर प्रेरकों, सहायकों एवं कुछ दर्शकों के साथ रिहर्सल बाद में हुआ हो।

श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में एक खास सरलता थी, जो एक तरह से भ्रमोत्पादक थी। प्रस्तुत संकलन शायद यह अच्छी तरह दिखलाता है कि हमारे विश्लेषण का विषय—यह व्यक्तित्व—कितना जटिल और अभूतपूर्व है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में यह विवाद तो चलता ही रहेगा कि दक्षिणेश्वर में कौन रहा था—एक उन्मादी, एक ऋषि, एक सन्त, एक योगी, एक अवतार या फिर स्वयं भगवान् ही। ये सभी शब्द ही हैं, जैसा कि एक अनुभूतिसम्पन्न कवि हमें याद दिलाता है—

"उस बोझ से शब्द थक जाते हैं,

फट जाते हैं और कभी टूट भी जाते हैं,
उस तनाव से फिसलकर लुढ़ककर
विनष्ट हो जाते हैं,
अवनति अपनी असत्यता के साथ
अपने स्थान पर न टिक सकेगी,
शान्त न ठहर सकेगी।"

परन्तु इसका विशेष महत्त्व नहीं। घटना हमारे सामने है और हम उसके समक्ष दाँतों-तले उँगली दबाये बिना नहीं रह सकते।

(समाप्त)

○

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—
कालीपद घोष

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी-मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।—स०)

श्रीमती कृष्णप्रियंगिनी जब सब प्रकार से कोशिश करके भी अपने पति को कुमार्ग से सुधारकर सही रास्ते पर नहीं ला पायी, तब उसमें चिड़चिड़ापन और कड़वाहट आ गयी। हताश होकर वह अन्य संगिनियों के साथ एक दिन दक्षिणेश्वर में माँ-काली की पूजा करने के निमित्त गयी। वहाँ उसकी भेंट श्रीरामकृष्ण से हुई और उनमें एक सहानुभूतिपूर्वक सुननेवाला पाकर अपने अन्तर की व्यथा उसने उँड़ेल दी। उसका पति गलत राहों में पड़ गया था और परिवार को नष्ट करने पर तुला था। उसने श्रीरामकृष्ण से कोई इलाज बताने की प्रार्थना की। श्रीरामकृष्ण तो सिद्धाई का उपयोग, विशेषकर भौतिक लाभ के लिए, करने के सख्त विरोधी थे, अतएव उन्होंने कोई वशीकरण मंत्र आदि देने से इन्कार कर दिया। पर गहरी सहानुभूति और अदम्य विनोदी स्वभाव के कारण उन्होंने उसे एकदम भगा नहीं दिया। उन्होंने उससे नौबतखाने में जाने के

लिए कहा, "देखो, वहाँ एक महिला रहती है। वह ऐसा जादू-टोना और वशीकरण मंत्र जानती है और इस मामले में उसकी शक्ति मुझसे अधिक है।"

श्री सारदादेवी उस समय पूजा कर रही थीं। उन्होंने उस स्त्री की बात बहुत धीरज से सुनी, पर उसे फिर से श्रीरामकृष्ण के पास जाकर प्रार्थना करने को कहा। श्रीरामकृष्ण इस विनोद के खेल को सफल होते देख अत्यन्त आनन्दित हुए। उन्होंने उसे फिर सारदादेवी के पास भेज दिया। इस प्रकार तीन बार उन लोगों के बीच आते-जाते बेचारी कृष्णप्रिया बहुत भ्रमित हो उठी। इस बार सारदादेवी को उस पर दया आयी और उन्होंने उसे सान्त्वना दी। पूजा में भगवान् को चढ़ाया बेलपत्र उसे देते हुए उन्होंने कहा, "बेटी, यह ले जाओ, इससे तुम्हारी कामना पूरी होगी।"[१] श्रीरामकृष्ण ने भी उसे यह कहकर ढाढ़स बँधाया—"कालीपद इसी स्थान का है, तुम बिल्कुल चिन्ता न करो। वह निकट भविष्य में ही यहाँ आएगा।"[२] अचरज है कि कालीपद में सुधार परिलक्षित होने लगा। समय पाकर वह रामकृष्ण के प्रमुख भक्तों में से एक हो गया और उसकी पत्नी को भी अनुभव होने लगा कि यह संसार कोई आनन्द की जगह नहीं है, पर साथ ही यह लगातार दुःख की भी जगह नहीं है, जैसा कि उसने एक समय सोच रखा था।

१. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्री माँ सारदादेवी' (रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वि. सं.), पृ. १५६।

२. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' (कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय, नौवाँ संस्करण), पृ. ३७७।

कालीपद १८४९ की एक अमावस्या के दिन श्याम-पुकुर के घोष परिवार में जन्मा था। पिता, गुरुदास घोष, जूट के छोटे से व्यापारी थे और पूरी तरह संसारी होते हुए भी माँ-काली के प्रति भक्ति और श्रद्धा के लिए काफी प्रसिद्ध थे। माता मेनकाबाला कर्तव्यपरायण, भक्तिमती, दयालु तथा उदार थीं। बालक के चरित्र-निर्माण में उनका काफी योगदान था। जहाँ तक बालक कालीपद की बात है, वह इतना चंचल था कि कक्षा की चारदीवारी के भीतर अपने को बाँधे रखना उसके लिए मुश्किल था। उसकी रुचियाँ विस्तृत थीं—संगीत, गीत-रचना, नाटक खेलना, भोजन पकाना इत्यादि इत्यादि। बचपन से वह बेहद जिद्दी स्वभाव का था, जो उसके चरित्र का एक प्रमुख अंग बन गया था। पर साथ ही उसमें एक अन्य पक्ष था, जो समर्पण और प्रशंसा करने के लिए प्रस्तुत रहता।

अपने पुत्र को आठवीं से अधिक पढ़ा सकने में आर्थिक रूप से असमर्थ होने के कारण गुरुदास ने उसके लिए मेसर्स जॉन डिकिन्सन कं. में शॉप-असिस्टेंट की नौकरी ढूंढ़ दी। शुरू में ऐसा लगा था कि उसके भाग्य में यही एक ढर्रे का काम बदा है। परन्तु वह खूब जीवट का आदमी था। अपनी लगन और उत्साह के द्वारा उसने अपने ऊपरी अफसरों का विश्वास अर्जित कर लिया तथा उसकी समझ, मेहनती स्वभाव तथा, सर्वोपरि, अध्यवसाय ने उसे सतत ऊपर उठने में सहायता दी। समय पाकर वह कम्पनी के प्रबन्धक कर्मचारियों में आ गया। वहाँ उसने धन कमाया और श्यामपुकुर स्ट्रीट, कलकत्ता में एक तिमंजला मकान बनवा लिया। कम्पनी के संगठन में उसका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण था कि कम्पनी ने

अपने द्वारा निर्मित कागज पर उसके बस्ट का वाटर-मार्क छापा था।[३]

कुछ संयोग ऐसा बना कि कालीपद गिरीश चन्द्र घोष के घनिष्ठ हो गया, यद्यपि प्रसिद्ध नाट्यकार उससे पाँच वर्ष बड़े थे। उन लोगों में गहरी मित्रता हो गयी। कालीपद की ओर से नम्र आदरभाव था, तो गिरीश की ओर से बड़े भाई का सद्भावपूर्ण स्नेह। दोनों के चरित्र में ऐसी कई समानताएँ थीं कि लोग उनकी घनिष्ठता देख उन्हें बहुधा 'जगाई-मधाई' कहा करते। गिरीश की भाँति ही कालीपद के चरित्र में भी हुनर और लम्पटता एक साथ विद्यमान थे, पर कालीपद में किसी गुरु से आध्यात्मिक मार्गदर्शन पाने की आन्तरिक इच्छा थी और तर्क-विचार की ओर उसका ज्यादा ध्यान नहीं था। यह प्रवृत्ति गिरीश के चरित्र में नहीं थी। अपनी क्षुद्र एवं विचार-हीन मन की तरंग से प्रेरित हो कालीपद पतन के जीवन में गिर पड़ा था और उसकी आन्तरिक भक्तिभावना तथा विवेक दब गये थे। अपनी इस दयनीय स्थिति से किसी प्रकार उबरने की कोशिश में कभी कभी वह धार्मिक उत्सवों और अनुष्ठानों में भाग लेता। धर्मनिष्ठ पत्नी की उसको सही मार्ग पर लाने की सतत चेष्टा से भी उसे कभी कभी अपने किये पर पश्चात्ताप होता। उसके मन में यह धारणा घर करने लगी थी कि उच्चतर सत्ता में विश्वास ही उसे उबार सकता है और कभी कभी

३. प्रारम्भ में मेसर्स जॉन डिक्सन कं., सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक मेसर्स मैकमिलन कं., के एजेण्ट थे। बाद में उन्होने स्वतंत्र रूप से विभिन्न प्रकार के कागज़ निर्माण करने की फर्म बनायी थी। कालीपद घोष का नाम इस क्षेत्र में कम्पनी के जर्नल में खूब प्रशंसित हुआ था।

उसमें किसी आध्यात्मिक गुरु की शरण लेने की आन्तरिक इच्छा जाग उठती ।

१८८४ के उत्तरार्ध में एक अनहोनी घटना घटी ।[४] एक मध्याह्न में कालीपद गिरीश घोष के साथ दक्षिणेश्वर के परमहंस से मिलने पहुँचा । गिरीश के आग्रह की अपेक्षा उत्सुकता ने कालीपद को रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर-स्थित कालीमन्दिर में जाने के लिए अधिक प्रेरित किया था । वह अपने मित्र और पथप्रदर्शक गिरीश के इस गुरु को देखने भर के लिए आया था ।

पहली दृष्टि में वह मन्दिरोद्यान किसी भी अच्छी तरह रखरखाव किये हुए मन्दिर-प्रांगण की भाँति प्रतीत हुआ । कालीपद श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट होने के लिए आगे बढ़ा । उसका ऊँचा कद, भारी शरीर, गेहुँआ रंग, बड़ी बड़ी आँखें, मुसकराता चेहरा उसके आत्मविश्वास और हँसमुख स्वभाव की बात कह रहे थे । उसने देखा कि श्रीरामकृष्ण का शरीर क्षीणकाय है । पर उनके विशिष्ट रूप से आकर्षक मुखड़े ने कालीपद को विचित्र रूप से झकझोर दिया । वह श्रीरामकृष्ण के दीप्त मुखमण्डल की ओर मंत्रमुग्ध-सा देखता रह गया । गिरीश का अनु-

४. स्वामी गम्भीरानन्द के अनुसार १८८४ के प्रारम्भ की घटना है ('श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', भा. २, पृ. ४६२) । गिरीश चन्द्र घोष की प्रथम भेंट श्रीरामकृष्ण से सितम्बर १८८४ के प्रारम्भ में हुई थी तथा दूसरी, २१ सितम्बर १८८४ को स्टार थियेटर में । गिरीश चन्द्र कालीपद को श्रीरामकृष्ण के यहाँ तभी ले गये, जब उन्हें इस सन्त की महत्ता पर विश्वास हो गया । इस प्रकार कालीपद की प्रथम भेंट जल्दी से जल्दी नवम्बर १८८४ में ही हो सकती है ।

सरण कर उसने श्रीरामकृष्ण का अभिवादन किया।[५] गिरीश ने ठाकुर से कालीपद का परिचय जरूर कराया होगा।

किसी व्यक्ति को सामान्य तथा आध्यात्मिक रूप से परखने में विशेष दक्ष श्रीरामकृष्ण ने तत्काल ही कालीपद के रूप में उस भटके व्यक्ति को पहचान लिया, जिसकी पत्नी ने काफी पहले उनके पास प्रार्थना की थी। जैसा कि उनका स्वभाव था, उन्होंने कालीपद की आध्यात्मिक योग्यता का भी अनुमान लगा लिया और जान लिया कि उनकी दिव्य लीला में उसको भी एक भूमिका निभानी है। वार्तालाप के दौरान श्रीरामकृष्ण ने यूं ही बतलाया कि राखाल के पिता यद्यपि एक धनवान्, व्यक्ति हैं, पर सदा मुकदमेबाजी में फँसे रहते हैं; उनको ऐसा विश्वास हो गया कि चूंकि राखाल श्रीरामकृष्ण के संरक्षण में है, इसलिए वे ऐसे तीन कानूनी मुकदमे जीत गये हैं, जिनमें जीतने की उम्मीद नहीं थी। उसी दिन कालीपद के भी तीन मुकदमों की तारीख थी। हार की लगभग पूरी सम्भावना देखकर कालीपद उस दिन कचहरी ही नहीं गया था।

यद्यपि यह कहीं नहीं लिखा है फिर भी यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण ने अपने सुपरिचित अन्दाज में "फिर आना" कहकर उन लोगों को विदा दी होगी। दक्षिणेश्वर छोड़ने के बाद कालीपद को यह अनुभव करके अचरज हुआ कि सन्त ने उसके हृदय को रहस्यमय रूप से बाँध लिया है।[६] और अधिक

५. 'पुंथि', पृष्ठ ४७७, के अनुसार कालीपद दक्षिणेश्वर अकेले गये थे। इस अवसर पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण को नमस्कार नहीं किया था।

६. अपने दक्षिणेश्वर के दिनों की याद करते हुए लाटू महाराज

आश्चर्य तो कालीपद को घर लौटकर तब हुआ, जब उसको पता लगा कि वह वे तीनों मुकदमे जीत गया है, जिनमें जीतने की उसे कोई उम्मीद न थी। इससे वह भी श्रीरामकृष्ण की कृपाशक्ति को मानने के लिए बाध्य हो गया। तब उसे अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा कि उसने अपनी उद्धतता के कारण सन्त के प्रति उचित व्यवहार नहीं किया।[७] उसके भीतर भक्ति का ज्वार उमड़ पड़ा।

कालीपद के अन्त:करण में सन्त के पुन: दर्शन की लालसा तीव्रतर होती गयी। जल्दी ही वह पूरी भी हुई। वह एक किराये की नौका से वहाँ पहुँचा। दोपहर के विश्राम से उठकर श्रीरामकृष्ण अपनी खाट पर बैठे थे। उन्होंने कालीपद का एक आत्मीय के समान स्वागत किया। श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ता जाने की इच्छा प्रकट

(स्वामी अद्भुतानन्द) ने कालीपद की प्रथम भेंट का एक अलग ही वर्णन किया है। लाटू महाराज के अनुसार उस समय श्रीरामकृष्ण ने कालीपद से पूछा था, "तुम क्या चाहते हो?" कालीपद ने निर्लज्ज हो कहा था; "क्या तुम मुझे थोड़ी सी शराब दे सकते हो?" ठाकुर ने मुसकराते हुए उत्तर दिया, "जरूर दे सकता हूँ, पर मेरे पास जो शराब है वह इतनी नशीली है कि तुम इसे सहन नहीं कर सकोगे।" थोड़ी देर तक कालीपद सोचते रहे और फिर कहा, "मुझे ऐसी शराब दो, जिससे पूरा जीवन मुझमें नशा बना रहे।" ठाकुर ने उसका स्पर्श किया और कालीपद ने रोना शुरू किया। दूसरे अन्य भक्तों ने उसे शान्त करना चाहा, पर वह लगातार बहुत समय तक रोता रहा। (देखें स्वामी चेतनानन्द लिखित 'स्वामी अद्भुतानन्द' (अँगरेजी), वेदान्त सोसायटी ऑफ सेण्ट लुई, १९८०, पृष्ठ ४४)।

७. 'तत्त्वमंजरी' (बँगला मासिक), भाग ९, अंक ४, पृष्ठ ९१।

की । एकान्त में रहनेवाले परमहंस का यह प्रस्ताव कालीपद के लिए रहस्यमय था । पर उसने उनके इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और अपने साथ नौका में चलने की प्रार्थना की । किराये की नौका उन लोगों का इन्तजार कर रही थी । इसलिए श्रीरामकृष्ण अपने एक सेवक लाटू को साथ ले कालीपद के संग नौका में कलकत्ता के लिए रवाना हुए ।

वार्तालाप करने पर श्रीरामकृष्ण को मालूम पड़ा कि कालीपद जगन्माता का भक्त है, परन्तु चूँकि किसी साधारण गुरु में उसका विश्वास नहीं है इसलिए उसने अभी तक किसी से दीक्षा नहीं ली है तथा वह किसी सिद्ध महात्मा की खोज में है । उच्च भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को अपनी जीभ बाहर निकालने के लिए कहा । कालीपद के द्वारा आज्ञापालन के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपनी अँगुली से उस पर कुछ लिख दिया और उसे उस पवित्र मंत्र का जाप करने के लिए कहा । कालीपद को अनुभव हुआ मानो छाती में कुछ उठ रहा है । यद्यपि इससे उसे अपने भीतर एक प्रकार के उबाल का अनुभव हुआ, पर तब भी वह अलौकिक कृपा का महत्त्व नहीं समझ सका था ।[८] जैसा अवर्णनीय आनन्द उसे मिला, वैसा इससे पहले कभी नहीं मिला था । अब उसे पता लगा कि श्रीरामकृष्ण उसी के घर जाने के लिए निकले हैं । इस अहैतुकी कृपा से भावविह्वल हो कालीपद उन्हें तथा लाटू को बड़े स्नेह और श्रद्धा से अपने ३०, श्यामपुकुर स्ट्रीट के मकान पर एक भाड़ा-गाड़ी में ले गया ।

८. 'पुंथि', पृष्ठ ४७७-७८ एवं 'तत्त्वमंजरी', भा. ९, अंक ४, पृ. ९२ ।

नवम्बर का महीना था। जिस कमरे में श्रीरामकृष्ण को बिठाया गया था, उसमें हिन्दू देवी-देवताओं के कई बड़े-बड़े तैल-चित्र टँगे हुए थे। उन चित्रों को देख श्रीरामकृष्ण आनन्दित हुए और जल्दी ही भावसमाधि में डूब गये। वे कुछ मधुर स्तुतियाँ गाने लगे। फिर वे मौन हो गये। देखते ही देखते मानो किसी जादू से वे चित्र जीवन्त प्रतीत होने लगे।[१] इस अपूर्व घटना ने कालीपद पर बहुत गहरा प्रभाव डाला था।

कोई भी साधना इतनी कठोर नहीं है, जितनी निर्लिप्त भाव से संसार में रहना, तथापि कालीपद ने अब अपने जीवन को सुधारना प्रारम्भ किया। आध्यात्मिक जीवन के अधिकांश साधकों की भाँति कालीपद का वैराग्य भी बीच बीच में डोल जाता। वह अपनी बुरी आदतों को छोड़ देता तथा फिर ग्रहण कर लेता, फिर छोड़ता, फिर ग्रहण करता और इस प्रकार तब तक चलता रहा, जब तक कि वैराग्य मजबूत नहीं हो गया। बहुतों की धारणा थी कि वह ज्यादा समय तक नहीं टिक पाएगा, पर वह वैराग्य वास्तव में उसके जीवन के अन्त तक बना रहा। सूक्ष्म रूप से ही सही, पर निश्चित रूप से श्रीरामकृष्ण उसे सांसारिकता से ऊपर उठाकर अपने भक्तों के दल में ले आ रहे थे।

ऐसा लगता है कि चरित्र-गठन के अपूर्व कारीगर श्रीरामकृष्ण ने कालीपद पर कोई कठोर नियम, अनुशासन नहीं थोपा था, अपितु उसके प्रति अपना अहैतुक स्नेह बरसाया था। और कालीपद भी क्रमशः उठता गया।

---

१. 'भक्तमालिका', भा. २, पृ. ४६२।

श्रीरामकृष्ण इतने उदार थे कि कालीपद ने एक दिन आनन्दपूर्वक भक्तों से कहा था, "हमारे ये अच्छे ठाकुर हैं! —जप, ध्यान, तपस्या, कुछ करना ही नहीं पड़ता।"[१०] तथापि उसका मन सहज रूप से श्रीरामकृष्ण में लगा रहने लगा, जिनका मौन प्रभाव उसके जीवन के परिवर्तन में जादू-जैसा काम कर रहा था।

समय आने पर कालीपद श्रीरामकृष्ण के इतने पक्के भक्त बन गये कि उन्होंने अपने कमरे में सारदादेवी की भी तस्वीर नहीं रखी थी। पूछने पर वे श्रीरामकृष्ण की तस्वीर के सामने हाथ जोड़ प्रणाम करते और कहते, "ये ही हमारे पिता हैं और ये ही हमारी माता भी।" जैसे जैसे दिन बीतते गये, कालीपद के हृदय में प्रेम और भक्ति प्रस्फुटित होने लगी तथा इसके साथ ही साथ उनके भीतर की लम्पटता और सांसारिक महत्त्वाकांक्षाएँ कुम्हलाने लगीं। परवर्ती जीवन में वे डंके की चोट पर कहा करते, "यद्यपि मैं जगाई-मधाई की भाँति दुष्कर्मों में प्रवृत्त था, फिर भी ठाकुर ने मुझे अपना समझकर मुझ पर कृपा की।"[११] गिरीश की भाँति ही श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को भी अन्य दूसरे भक्तों की अपेक्षा कई छूटें दे रखी थीं। यद्यपि उनके विरुद्ध कई शिकायतें थीं—और वे प्रामाणिक भी रहतीं—पर श्रीरामकृष्ण ने कभी "तुम ऐसा मत करो" वाला निषेधात्मक उपदेश देकर समय नष्ट नहीं किया। बल्कि उन्होंने उनके चरित्र में जो छिपी हुई अच्छी, पवित्र तथा सुन्दर प्रवृत्तियाँ थीं,

१०. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. ३, द्वि. सं., पृ. ३३९।

११. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बँगला), द्वि. सं.; पृ. ३३३।

उन्हें उभारा। इस प्रकार विधेयात्मक उपाय से कालीपद के लिए सुधरना सरल था। १८ अक्तूबर १८८५ को श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "कालीपद ने कहा है, उसने शराब पीना एकदम छोड़ दिया है।"[१२]

हृदय और मस्तिष्क के बिरले गुणों से सम्पन्न कालीपद श्रीरामकृष्ण के भक्तों के बीच शीघ्र ही प्रिय हो गये। व्यवस्था करने में निपुण होने के कारण किसी प्रकार की भी कठिन परिस्थिति को सम्हालने के लिए वे खुशी से तत्पर रहते। श्रीरामकृष्ण अक्सर उन्हें 'मैनेजर' कहते। वे पाकशास्त्र में भी बहुत निपुण थे, इसलिए भक्त लोग विनोद से उन्हें कभी 'गृहिणी' भी कहा करते।

उनकी कलात्मक विशेषताओं में संगीत के गायन एवं वादन दोनों रूपों की उल्लेखनीय प्रतिभा थी। एक दिन जब उन्होंने बाँसुरी पर मधुर तान छेड़ी, उसे सुन श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये थे। एक अन्य दिन बागबाजार में बलराम बोस के घर में गिरीश चन्द्र घोष और कालीपद ने मिलकर बहुत मस्ती से गाया था, जिसका भावार्थ था—

"मेरा मन न जाने क्यों विकल हो रहा है। (निताई) मुझे धरो। (निताई) जीव को हरिनाम बाँटने के लिए प्रेमनदी में लहर उठने लगी, उस लहर में अब मैं बहता जा रहा हूँ।[१३]

दूसरी मंजिल का हॉल खचाखच भरा था। पश्चिमी

---

१२. 'वचनामृत', भा. ३, द्वि. सं., पृष्ठ २८८।

१३. स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग ३, प्र. सं., पृष्ठ २२२।

कोने में पूर्व की ओर मुख किये श्रीरामकृष्ण गहरी समाधि में डूब गये थे ।

जब गले की व्याधि से पीड़ित श्रीरामकृष्ण को उपचार के लिए श्यामपुकुर ले जाया गया था, तब कालीपद ने नये किराये के मकान को व्यवस्थित करने में बहुत मेहनत की थी । घर की आवश्यक वस्तुओं को जुटाने के साथ साथ उन्होंने दीवाल में देवी-देवताओं की तस्वीरें भी टँगवायी थीं, जिससे श्रीरामकृष्ण वहाँ अधिक से अधिक सुविधा के साथ रह सकें । फिर वह भी कालीपद ही थे, जिन्होंने विनोदिनी दासी को श्रीरामकृष्ण से मिलवाया था । विनोदिनी दासी ने गिरीश घोष के नाटक में चैतन्य का अभिनय किया था, जिसे सबने उच्च कण्ठ से सराहा था और श्रीरामकृष्ण ने भी उस पर प्रसन्न हो कृपा की थी । उसमें अस्वस्थ सन्त को देखने की तीव्र इच्छा थी । पर श्रीरामकृष्ण के पास वह पहुँचे कैसे ? तब कालीपद ने उस अभिनेत्री को पश्चिमी वेशभूषा के कोट-पैण्ट पहनाकर पुरुष-रूप में सजाया और सेवकों की दृष्टि बचाकर उसे श्रीरामकृष्ण के सामने ले गये । अतिथि की पहचान होने पर श्रीरामकृष्ण खूब हँसे थे और उसे उपदेश दिया था ।

विश्वास से कृपा उपजती है । १८८५ की कालीपूजा का दिन था । ठाकुर के आदेश से भक्तों ने, विशेषकर कालीपद ने, श्रीरामकृष्ण के कमरे में माँ-काली की पूजा की व्यवस्था की थी । ठाकुर के सामने पुष्प, चन्दन, बेलपत्ते, लाल जवा, नैवेद्य के लिए खीर और विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ तथा अन्यान्य पूजा-सामग्री रख दी गयी । लगभग तीस भक्त वहाँ एकत्रित थे । ठाकुर ने समस्त चीजें

माँ को अर्पित कीं । ठाकुर की सलाह पर सब उनके सम्मुख बैठकर ध्यान करने लगे । तब गिरीश चन्द्र को ऐसा आभास हुआ मानो ठाकुर उन लोगों को स्वयं अपने (ठाकुर के) भीतर ही जगन्माता की पूजा करने का सुअवसर दे रहे हैं । अपनी छोटीसी भी तरंग को पूरा करने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले गिरीश ने पुष्पों की माला श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्पित की । कालीपद और अन्य सबने भी वैसा किया । श्रीरामकृष्ण के भीतर एक भावतरंग प्रवाहित हो गयी और वे समाधिस्थ हो गये । "मुखमण्डल दैवी ज्योति से दीप्त था । उनके दोनों हाथ वराभयदायिनी जगन्माता की मूर्ति के सदृश उठे हुए थे ।"[१४] कालीपद के लिए यह एक अत्यन्त प्रेरक अनुभव था । अचरज से अवाक् हुए कालीपद ने अन्य दूसरों की भाँति अनुभव किया कि जगन्माता श्रीरामकृष्ण के रूप में प्रकट हो उन लोगों को आशीर्वाद दे रही हैं । इस विशेष पूजा के बाद भक्तों ने भावपूर्ण कीर्तन और नृत्य किया ।[१५]

ठाकुर ने कालीपद पर अकेले में भी कृपा की थी । २३ दिसम्बर १८८५ को काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण ने अपने भक्तों के प्रति प्रेम की निर्बाध अभिव्यक्ति की थी । कालीपद के हृदयस्थल का स्पर्श कर उन्होंने कहा था, "चैतन्य हो ।" फिर उनकी ठुड्डी को स्नेह से पकड़कर उन्होंने उच्च भावावस्था में कहा था, "जिसने हृदय में ईश्वर को पुकारा होगा, जिसने सन्ध्योपासना की होगी,

१४. 'वचनामृत', भा. ३, पृ. ४३० ।

१५. 'उद्बोधन' (बंगला मासिक), भाग ७५, अंक ७ ।

उसे यहाँ आना ही होगा।"[१६] इस बिरली कृपा को पा कालीपद अभिभूत हो उठे, उन्होंने पहले कभी ऐसी आनन्दानुभूति की कल्पना भी नहीं की थी।

कालीपद उन भक्तों की श्रेणी के थे, जो श्रीरामकृष्ण को अवतार मानते और ऐसा समझते कि उनकी यह बीमारी सिर्फ एक लीला है, जिसके द्वारा कोई अत्यन्त गहरा उद्देश्य पूर्ण होगा, और जब यह उद्देश्य पूरा हो जाएगा, तब वे इस घातक बीमारी से अपने को मुक्त कर लेंगे। स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं—"कालीपद सभी बातों में गिरीश के ही अनुगामी थे और इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि कोई दुराचारी यदि पछताकर उनका (श्रीरामकृष्ण का) चरण स्पर्श कर ले तो उससे उनका रोग बढ़ जाएगा, क्योंकि उनकी धारणा थी कि श्रीरामकृष्ण युगावतार हैं," [१७] और इसलिए वे कर्म के नियम से परे हैं।

परन्तु श्रीरामकृष्ण तो स्वस्थ होनेवाले न थे, इसलिए जब अगस्त १८८६ में वे महासमाधि में लीन हो गये, तब कालीपद को बिछोह का भारी सदमा पहुँचा। भवसागर से पार ले जानेवाला जहाज, जिस पर वे आश्रित थे, अब आँखों से ओझल हो गया था और इसलिए कालीपद भयभीत थे कि कहीं वे फिर से न डूब जाएँ। पर इस प्रकार की निराशा से टूटने की बजाय उन्होंने ठाकुर के दिये हुए अनमोल आश्वासन और विश्वास का सम्बल लिया। ठाकुर की छबि के सामने बैठकर वे

१६. 'वचनामृत', भा. ३, पृ. ४३४।

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग २, प्र. सं., पृ. २६२।

गहरी आन्तरिकता के साथ प्रार्थना करते, "हे ठाकुर, दया करो, अपना दर्शन दो!"[१८]

श्रीरामकृष्ण के प्रति उनके गहरे प्रेम और भक्ति ने उनके रचित बहुत सारे गीतों में अपनी अभिव्यक्ति पायी थी। रामकृष्ण योगोद्यान मठ द्वारा १८९३ में प्रकाशित 'रामकृष्ण संगीत' और योगविनोद आश्रम, सिमुलतला द्वारा प्रकाशित 'ठाकुरेर नामामृत' पुस्तकों में उनकी साहित्यिक प्रतिभा, संगीत-ज्ञान तथा, सर्वोपरि, ठाकुर के प्रति उनकी गहरी भक्ति का प्रचुर प्रमाण मिलता है। उनको जो भय था कि वे फिर से कहीं फिसल न जायँ, वह ठाकुर की कृपा से कट गया और वे ईश्वर की ओर जानेवाली यात्रा में आगे ही आगे बढ़ते चले गये। लोग उनमें हुए परिवर्तन को देख अचरज करते।

कालीपद उन प्रथम लोगों में से थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव मनाना प्रारम्भ किया था—यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में भी।[१९] मनोमोहन मित्र और कालीपद घोष जैसे भक्तों ने रामचन्द्र दत्त को श्रीरामकृष्ण के नाम-प्रचार के प्रयत्नों में सब प्रकार से सहायता की थी।[२०] रामचन्द्र दत्त के व्याख्यानों के

१८. ऐसा कहा जाता है कि कालीपद ने ३०, श्यामपुकुर स्ट्रीट के तीसरी मंजिल वाले कमरे में कुछ दिन अपने को बन्द करके रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दिव्य दर्शन पाकर वे धन्य हुए थे।

१९. रामचन्द्र दत्त : 'श्रीश्रीपरमहंस रामकृष्णदेवेर जीवन-वृत्तान्त' (बँगला), तृतीय संस्करण, पृ. १३०।

२०. 'भक्त मनोमोहन' (कलकत्ता, उद्बोधन कार्यालय, १३५१ बंगाब्द), पृष्ठ १७८।

प्रारम्भ और अन्त में गाये गीतों में से अधिकांश कालीपद द्वारा रचित होते। बम्बई में भी कालीपद ने श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया था।[२१] इन उत्सवों की सफलता अधिकतर कालीपद की आन्तरिकता और अथक परिश्रम के कारण हुई थी।

रामकृष्ण संघ के प्रारम्भिक दिनों में वराहनगर मठ में उनसे जितना बन सकता वे सहायता करते रहते। जब उनकी उसी विलायती कम्पनी में और ऊँचे पद पर बम्बई बदली हो गयी, तब भी उनकी सहायता वराहनगर मठ को बराबर मिलती रहती। रामकृष्ण संघ के जो संन्यासी उस तरफ भ्रमण पर जाते, वे अपने ठाकुर के इस प्रिय भक्त के यहाँ जरूर जाते।

श्रीरामकृष्ण के प्रति कालीपद का जो अगाध प्रेम था, उसकी झलक नवगोपाल घोष के घर पर आयोजित वार्षिक उत्सव में देखने को मिली थी। काँकुड़गाछी के भक्त लोग करताल और मृदंग ले कीर्तन कर रहे थे जबकि कालीपद चुपचाप अन्य भक्तों के साथ बैठे थे। जैसे ही गिरीश चन्द्र वहाँ उपस्थित हुए, लोग और उत्साह से मृदंग बजाने लगे। इससे गिरीश और कालीपद उस कीर्तन में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित हो उठे। भक्त लोग अपने परिचित इन 'जगाई-मधाई' को घेरकर कीर्तन तथा नृत्य करने लगे। संक्रामक ताल से मुग्ध हो गिरीश और कालीपद दोनों एकदम नृत्य करने लगे। उनके भारी-भरकम शरीर के ऊपरी भाग में वस्त्र नहीं था और वे लय-ताल के साथ आगे-पीछे हो रहे थे। नवगोपाल ने दोनों को माला

२१. शंकरी प्रसाद बसु : 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (बँगला), (कलकत्ता, मण्डल बुक हाउस), भाग २, पृ. १७३।

पहनायी। कुछ समय बाद वे दोनों एक दूसरे के हाथ में हाथ मिला स्थिर खड़े हो गये। उनके नेत्र मुँदे हुए थे तथा मुख से 'रामकृष्ण, रामकृष्ण' उच्चरित हो रहा था। उनका मुखमण्डल श्रीरामकृष्ण की कृपा पाकर दीप्त हो उठा था। भक्त-मण्डली खूब उत्साह से भरकर ताल में कीर्तन और नृत्य करती रही। वह सचमुच एक बिरला दृश्य था।

कालीपद कभी किसी से व्यक्तिगत सेवा नहीं लेते थे, बल्कि स्वयं ही सबकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहते। उनके रोष की कीमत पर ही कोई उनकी पदधूलि ले सकता था। क्रोध और अहंकार लगभग उनमें से मिट गये थे। एक बार एक दुष्ट ने जब उनके गाल पर एक तमाचा जड़ दिया, तब तगड़े कालीपद ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। जब मित्रों ने प्रतिरोध करने के लिए कहा, तो वे नम्रता से बोले, "क्या उस दुष्ट ने मुझे मारा है? मैं श्रीरामकृष्ण का सेवक हूँ, मुझे कौन मार सकता है? वे तो रामकृष्ण ही थे, जिन्होंने उस दिन मुझे मारा!"[२२] उनका यह ज्वलन्त विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण ने उनका भार ले लिया है।

उनके साहस और उदारता को देख नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) ने कालीपद का नाम 'दानाकाली'* रखा था। कालीपद बहुत विशाल हृदय वाले व्यक्ति थे तथा उदार दान तथा अडिग विश्वास के लिए प्रसिद्ध थे, इसलिए नरेन्द्र का दिया नाम उन पर बिल्कुल ठीक बैठता था।

१७ जनवरी १८९९ को रामचन्द्र दत्त की मृत्यु के बाद श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, काँकुड़गाछी, जहाँ श्रीराम-

२२. 'तत्त्वमंजरी', भाग ९, अंक ४, पृ. ९३।
* बँगला के 'दाना' शब्द का अर्थ होता है 'दानव'।

कृष्ण की पवित्र अस्थियों की पूजा होती थी, की व्यवस्था का भार कालीपद ने अपने ऊपर ले लिया।[२३]

श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी निष्ठा तथा भक्ति उनके घर में तथा नौकरी में दोनों जगह दिखती थी। उनकी बहन श्रीमती महामाया मित्रा श्रीरामकृष्ण की बड़ी भक्त थीं।[२४] उनके तीन पुत्रों और दो कन्याओं में[२५] सब-से बड़ा बारेन्द्रकृष्ण सबसे अधिक प्रतिभासम्पन्न था। वह ४७ वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हो गया, पर अपने पिता के सिद्धान्तों में उसकी निष्ठा के कारण उसका स्मरण किया जाता है।[२६] अपने प्रत्येक कार्य और उपलब्धि में कालीपद श्रीरामकृष्ण की कृपा का अनुभव करते। उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने घर में तथा जिस विलायती फर्म में काम करते उसके प्रमुख एवं शाखा केन्द्रों में श्रीरामकृष्ण की छबि लगाकर की थी।

---

२३. महेन्द्रनाथ दत्त : 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' (बँगला), भाग १, तृतीय सं०, पृ. १४२।

२४. कालीपद के एक भाई थे तारापद और दो बहनें थीं महा-माया मित्रा एवं जोगमाया बसु।

२५. कालीपद के दो कन्याएँ थीं, और तीन पुत्रों में बारेन्द्र सबसे बड़े थे तथा हरेन्द्र और धरेन्द्र जुड़वा थे।

२६. बारेन्द्रकृष्ण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को ध्यान में रखकर ही 'उद्बोधन' के खण्ड २९, अंक १२, पृ. ७५४-६२ में उनकी मृत्यु पर लम्बा शोक-सन्देश प्रकाशित किया गया था। उनकी बहुत सी उपलब्धियों में उल्लेखनीय थी १९०८ में 'श्रीरामकृष्ण मिल्स' और १९१९ में 'श्री विवेकानन्द मिल' इन दो कपड़ा-मिलों की अहमदाबाद में स्थापना करना।

कालीपद ने अपने मित्रों से कहा था, "मैंने श्रीरामकृष्ण से वैसे तो कभी कोई प्रश्न नहीं पूछा। एक बार मैंने उनसे आश्वासन ले लिया और सन्तुष्ट हो गया। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि मृत्यु के समय वे मुझे एक हाथ से पकड़कर तथा दूसरे में लालटेन लेकर ले जावेंगे। श्रीरामकृष्ण ने सहर्ष उसे स्वीकार करते हुए कहा था, 'तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी'।" २८ जून १९०५ को रात्रि ९-३० बजे मृत्यु के समय कालीपद के हाथ आगे बढ़े हुए थे और चेहरा दमक रहा था। समीप उपस्थित लोगों को जिनमें स्वामी प्रेमानन्दजी[२७] भी थे, ऐसा प्रतीत हुआ मानो श्रीरामकृष्ण ने कालीपद को दिये वचन को अक्षरश: पूर्ण किया है। यह ३०, श्यामपुकुर स्ट्रीट के तिमंजिले मकान की तीसरी मंजिल के कमरे की घटना है।

कालीपद का जीवन इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है

२७. स्वामी अद्‌भुतानन्दजी के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं होकर कालीपद से उनकी आन्तरिक इच्छा पूछी थी। और जैसे ही उन्होंने व्यक्त किया, श्रीरामकृष्ण ने 'तथास्तु' कहा। स्वामी प्रेमानन्दजी, जो कालीपद की मृत्युशय्या के पास उपस्थित थे, से सुनकर स्वामी अद्‌भुतानन्दजी ने बाद में कहा था, "देखो! श्रीरामकृष्ण कालीपद के अन्तिम समय में उसके पास आये थे और उसे अपने साथ ले गये। बाबूरामभाई (स्वामी प्रेमानन्द) ने इसे स्पष्ट देखा था। ठाकुर द्वारा दिये गये वचन अक्षरश: पूरे उतरे थे।" चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय : 'श्री श्री लाटूमहाराजेर स्मृति-कथा' (कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय, तृतीय संस्करण), पृ. ३२५। साथ में देखें, 'तत्त्वमंजरी', भाग ९, अंक ४, पृ. ९४।

कि श्रीरामकृष्ण की कृपा कितने आश्चर्यजनक रूप से कार्य करती है। पारस जिस प्रकार लोहे को स्वर्ण में बदल देता है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने कालीपद घोष को—जो भोग और शराब में डूबा हुआ संसारी जीव था—एक ऐसे सन्त में परिवर्तित कर दिया, जो विश्वास में जिया और जिसने रामकृष्ण की गोद में चिर-विश्राम पाया। मृत्यु के समय की उनके चेहरे की चमक अभी भी गृहस्थ भक्तों के हृदय में आशा और विश्वास का संचार करती है।

○

"पिछली शताब्दी में ब्रिटिश बौद्धिक उत्कृष्टता का सबसे सुन्दर फल सम्भवतः रॉबर्ट ब्राउनिंग और जॉन रस्किन में देखने को मिलता है। फिर भी बंगाल के अशिक्षित और अपढ़ रामकृष्ण की तुलना में वे मात्र अँधेरे में ही टटोलने वाले हैं। जिसे हम 'शिक्षा' कहते हैं वह रामकृष्ण नहीं जानते थे, तथापि उनके वचन ऐसे थे जैसा उस युग का और कोई भी नहीं बोल सका। उन्होंने श्रान्त-क्लान्त मर्त्यों के सम्मुख ईश्वर को प्रकट कर दिया।"

—विलियम डिग्बी

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१८)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं। इस लेखमाला की अन्तिम किस्त है।—स०)

भक्त—सर्वशक्तिमान् भगवान् की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, उन सबकी अपेक्षा देह-धारण करके लीला के लिए उनके अवतार की बात अत्यन्त दुर्बोध्य और आश्चर्यजनक है। ज्ञानियों और योगियों की दृष्टि में भगवान् तेजोमय हैं और भक्त की दृष्टि में रसमय। इसलिए ज्ञानी और योगी की रुचि की अपेक्षा भक्त की रुचि सहस्रगुनी प्रशंसनीय और वांछनीय है। ज्ञानी और योगी की रुचि एकांगी होती है, वे भगवान् का आनन्द एक ही प्रकार से लेते हैं, किन्तु भक्त नाना प्रकार से भगवान् के रसास्वादन का आनन्द लेता है। इस विषय को ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने शहनाईवादन की उपमा देकर समझाया है। जो लोग शहनाई बजाते हैं, उनमें से दो के हाथ में शहनाई रहती है; एक सिर्फ 'पों' बजाता हुआ सुर लगाये रखता है और दूसरा व्यक्ति विविध राग-रागिनियाँ बजाता है। यहाँ भी वही है; ज्ञानी और योगी का केवल एक प्रकार का आस्वादन है, पर भक्त तो तीखा, रसीला, खट्टा और

तला सब प्रकार के रस का आस्वादन करता है। ऐसा मत सोचो कि भगवान् केवल अपना साकार रूप ही भक्त को दिखाते हैं। ऐसा नहीं कि वे और कुछ नहीं दिखाते, वे यह भी दिखाते हैं कि वे स्वयं ही जीव-जगत् के रूप में परिणत हुए हैं, वे स्वयं ही पंचभूतादि चौबीस तत्त्व बने हैं, वे स्वयं ही जीव-जगत् में आत्मा के रूप से विराजित हैं। फिर वे यह भी जना देते हैं कि इसके अलावा उनका एक निराकार भाव है। ज्ञानी और योगी को भक्त के भाव का पता तक नहीं चलता। भक्त भगवान् की समस्त अवस्थाओं को जान लेता है, इस बात को ठाकुर रामकृष्ण रामचन्द्रजी के द्वारा हनुमान्जी से पूछे एक प्रश्न का उल्लेख कर समझा देते हैं। वह ऐसा है—रामचन्द्रजी ने हनुमान्जी से एक दिन जिज्ञासा की, "हनुमान्! तुम मुझे किस रूप में देखते हो?" इस पर हनुमान्जी ने कहा, "प्रभो! कभी मैं देखता हूँ कि आप प्रभु हैं, मैं दास हूँ; कभी देखता हूँ—आप बृहत् अग्नि हैं और मैं उसकी एक चिनगारी हूँ; फिर कभी देखता हूँ—तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं है!" हनुमान्जी को रामचन्द्रजी ने अपने सारे भाव दिखला दिये थे। पर हनुमान्जी अन्य दोनों भावों की ओर ध्यान न देते हुए सेव्य और सेवक भाव में ही रहे। भक्तिभाव का मधुर आस्वादन एक बार यदि कोई पा ले या जान ले, तो फिर वह और कहीं न जाना चाहता है, न रहना। देवर्षि नारद का भी ऐसा ही भाव है। ज्ञानी और योगी की तुलना में भक्त के कष्ट कई गुना अधिक हैं, पर भक्तों की जाति ऐसी है कि भक्ति के लोभ में वे जान-बूझकर सारे कष्टों को अपने शरीर का अलंकार बनाकर रखते हैं। उद्धव वृन्दावन

में गोपियों को योगतत्त्व समझाने लगे, पर किसी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। कृष्ण-विरह में शरीर का चमड़ा झुलस गया था, सुवर्ण-कान्तिमय देह अंगारवत् हो गयी थी, रोते रोते नेत्र अन्धे हो गये थे, फिर भी किसी ने एक बार भी नयन नहीं मूंदे। मिश्री का रस पीने के बाद जिस प्रकार राब खाने की बिलकुल इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार खुले नेत्रों से जिसने एक बार भगवान् की रूपमाधुरी का उपभोग कर लिया है, वह मर भी जाय तो भी नेत्र मूंदकर देखना नहीं चाहता। भाई, व्रज के भाव की बलिहारी है—योग का आनन्द, ब्रह्मानन्द सब उसके सामने फीका है!

हाय रे तपस्वी महर्षि मुनिगण।
त्रिभुवन-सर्वजन-आराध्य चरण॥
आजीवन अनशन तरुतल में वास।
अविरल नाना व्रत कठोर संन्यास॥
प्रयास केवल तुच्छ धन हेतु।
त्रिताप-सन्ताप भय से बने अति भीतु॥
योगानन्द ब्रह्मानन्द सुखदुःख पार।
देखने की साध नहीं व्रज का व्यापार॥
योगानन्द ब्रह्मानन्द क्या आनन्द किसमें।
जो आनन्द गोपी के एक बिन्दु जल में॥

——'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि'

देहधारी भगवान् को समझना बड़ा कठिन है। वे जो भाव लेकर या जैसा रूप लेकर ही क्यों न आवें, यदि वे अपने को पहचानने की शक्ति न दें, तो कोई उनको नहीं पहचान सकता। केवल चैतन्य के द्वारा उनको

पकड़ा जा सकता है । मैं दिन के प्रकाश में वस्तुओं को देखने की नाईं स्पष्ट देख रहा हूँ——ठाकुर रामकृष्ण की देह में केवल चैतन्य घनीभूत है । जल जिस प्रकार खूब ठण्डा होने पर घनीभूत होकर बर्फ के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार चैतन्य ही भक्ति के हिल्लोर से प्रभुदेव की श्रीदेह के रूप में परिणत हुआ है । इस देह-धारी चैतन्यमय को पकड़ने का एकमात्र उपाय उनके द्वारा प्रदत्त चैतन्य ही है । चैतन्य की सहायता से ही चैतन्य को जाना जा सकता है । भक्ति और चैतन्य में मैं बहुत अन्दर नहीं देखता । जो भक्ति है वही चैतन्य है, जो चैतन्य है वही भक्ति है । मनुष्य का मन और उसकी बुद्धि जब तक मलिन रहते हैं, तब तक वे अलग अलग सत्तावाले रहते हैं और इसलिए मन और बुद्धि इन दो नामों से परिचित होते हैं; किन्तु भगवान् की कृपा से निर्मल अवस्था को प्राप्त होते ही वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं । इस मिलन की अवस्था में उनका पूर्व का स्वभाव या नाम कुछ नहीं बचता, तब उनका नाम हो जाता है चैतन्य । जो वस्तु जिस प्रकृति या जाति की होती है, वह उस प्रकृति या जाति की वस्तु को पहचान सकती है तथा समझ सकती है; इसलिए चैतन्यवान् चैतन्य की सहायता से चैतन्यमय को पकड़ पाते हैं, और अचैतन्य-वान् लोग अविद्या के बाजार की वस्तुओं को पहचानते हैं तथा उन्हें पकड़ते हैं । जीव के हृदय में चैतन्य देकर चैतन्यमय स्वेच्छा से अपने को पकड़ा देते हैं । प्रभुदेव के प्रेमिक भक्त देवेन्द्र बाबू एक बार उनका स्वरूप देख आनन्दोच्छ्वास से अपने को नहीं सम्हाल पाये; ठाकुर यह उसी क्षण समझ गये और उनकी तरफ देख हँसते-

हँसते यह गीत गाने लगे—(भावार्थ)—

ओरे लव कुश, क्यों करते हो गर्व ?
पकड़ा नहीं देने पर टूटेगा पकड़ सकने का दर्प ।

देहधारी भगवान् लीलाक्षेत्र में कितने ही सामान्य वेश में क्यों न रहें, पर चैतन्यवान् ठीक उनका स्व-स्वरूप देख लेते हैं। चैतन्य की सहायता से रामकृष्ण-भक्तों ने अपने उस दीनवेशधारी ठाकुर में दीनानाथ-रूप के दर्शन किये थे; निरक्षर के वेश में सर्वज्ञ-रूप के दर्शन किये थे; उनकी ऐश्वर्यविहीनता के बीच षडैश्वर्यवान् को देखा था और ससीम आकार के भीतर ही उनको असीम देखा था। श्रीरामकृष्णदेव के पादपद्म में सरल विश्वास रखकर चलो, शीघ्र ही पूर्णमनोरथ होगे। अवताररूपी ईश्वर के रूपान्तर को देखकर अथवा उनकी किसी अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर यदि कोई उन पर विश्वास करने की कल्पना पोषित करे, तो वह उन पर घोर अविश्वास ही माना जायगा। बात को खुलासा करके कहता हूँ—तुम यदि कहो कि रामकृष्णदेव अपने इस रूप में मुझे काली, कृष्ण या राम का रूप दिखा दें, तभी मैं उनको भगवान् मानूंगा, तो इस प्रकार की धारणा और कुछ नहीं, घोर अविश्वास ही है। जिसका एक रूप में विश्वास नहीं है, उसको किसी रूप में विश्वास नहीं होगा। मनुष्य की बुद्धि का कमाल देखो, तटविहीन सागर के पार जाने के लिए वह एक लकड़ी के तख्ते पर विश्वास कर सकता है; इस भयंकर संसार में मूर्तिमती अविद्या के हाथ में मन-प्राण देने में विश्वास करता है, किन्तु रामकृष्ण के पादपद्मों में विश्वास के समय उसकी सारी आशंकाएँ, सारे सन्देह, सारे तर्क और विचार जाग

जाते हैं। मनुष्य कितना ही बहादुर क्यों न हो, उसकी दौड़ चाहे जितनी क्यों न हो, पर जो मैं कह रहा हूँ उसे ध्यान देकर सुनो, मुझे खूब अच्छी तरह देख-सुनकर यह अकल मिली है, और उसी अकल के आधार पर मैं तुमसे कहता हूँ—भाई, चबाकर मत खाओ, निगल जाओ। चबाकर खाना किसे कहते हैं, जानते हो ? तर्क-युक्ति-विचार की सहायता से विश्वास कायम करने की चेष्टा का अर्थ है चबाकर खाना। तुम जिनके ऊपर भरोसा रखकर जाने की इच्छा रखते हो, उनकी देह में उतनी दूर तक जाने का बल नहीं है। भगवान् तर्क-युक्ति और विचार के परे हैं, वे इन्द्रियातीत हैं, मन के अतीत हैं। तुम्हारी एकमात्र पूँजी तुम्हारा मन ही तो है, और उस मन की क्या सामर्थ्य कि उनके पास जा सके ? उनके पास जाने के लिए मन तो रास्ते में ही छूट जाएगा, अतः ऐसे स्थान में विचार, तर्क और युक्ति को लेकर क्या काम होगा ? उसके लिए सहज-सरल उपाय है निगलकर खाना अर्थात् 'तुम जैसा करो ठाकुर' यह कहकर सरल हृदय से उनके शरणापन्न हो जाना। उनको नहीं पाते, तो उनके नाम का आश्रय ग्रहण करो।

जब तक मन-बुद्धि स्वयं को मलिनता में लिपटाये भूत बने बैठे रहते हैं, तब तक उनका बुलाना-चिल्लाना, जोर-जबरदस्ती, गर्जन-तर्जन दिखाई देता है, पर जब मलिनता दूर हो जाती है, तब उनकी अवस्था नमक खाये स्वामिभक्त कुत्ते के समान हो जाती है। मनुष्य को भूत पकड़ने की बात तो सुनी है न ? भूत के पकड़ने और भूत के छोड़ देने पर जैसी अवस्था होती है, मन-बुद्धि की मलिनतावाली और निर्मल अवस्थाएँ भी उसी प्रकार हैं।

मन को जिस भूत ने पकड़कर रखा है, उसे भगाने के लिए अर्थात् मलिन मन को विमल करने के लिए भगवान् के नाम की शरण लेना एक सहज उपाय है। सदा सरल हृदय से भगवान् का नाम लेते-लेते मलिन मन विमल होता है। ठाकुर रामकृष्णदेव बारम्बार कहते हैं—नाम की अपार महिमा है। नाम ही बीज है, नाम ही वृक्ष है और नाम ही फल है। नाम के भीतर भगवान् स्वयं हैं। उपदेश देने मात्र से लोग सहज में नहीं मानते, इसलिए रामकृष्णदेव जीव-शिक्षा के लिए स्वयं सुबह-शाम ताली बजा-बजाकर ताल में नाचते नाचते भगवान् का नाम लेते थे, नाम में उन्मत्त हो जाते थे। उसके बाद उनकी वह नामोन्मत्तता गहरी समाधि में परिणत हो जाती। इसके द्वारा ठाकुर जीव को दिखला रहे हैं तथा बतला रहे हैं कि जो समाधि जन्म-जन्म की विविध साधनाओं का फल है, उसे नाम के बल से भी पाया जा सकता है। इस विषय को अर्थात् नाम के बल से समाधि की प्राप्ति को वे एक विशेष उपमा देकर समझाते—एक वैष्णव साधु ने पहले यह कहकर कीर्तन आरम्भ किया—'गौर मेरा मत्त हाथी'। धीरे-धीरे जब 'गौर मेरा मत्त हाथी' कहते-कहते भावोन्मत्तता हुई, तब गौर शब्द को छोड़कर कहना शुरू किया 'मेरा मत्त हाथी'; बाद में जब भाव और भी प्रबल हुआ, तब 'मत्त हाथी' कहने लगा। बाद में जब भाव और भी घनीभूत हुआ, तब साधु के मुख से केवल 'हाथी, हाथी' निकलता रहा। बाद में अत्युच्च अवस्था में केवल 'हा' कहते ही बाह्य-ज्ञानशून्य और चुप हो गया अर्थात् समाधिस्थ हो गया। नाम के शरणापन्न होने, नाम-श्रवण, नाम-कीर्तन करने को ही ठाकुर रामकृष्णदेव के अनुसार नारदीय भक्ति

कहते हैं। कलिकाल में भगवान्-लाभ के लिए यह नारदीय भक्ति ही श्रेष्ठ है। रामकृष्णदेव का भाव कैसा है?— भीतर तो था गहरा पूरे सोलहों आना ज्ञान, परन्तु काल और पात्र देखकर जीवशिक्षा के लिए सर्वदा भक्ति की चादर शरीर पर लपेटकर रखते थे। हाथी के जैसे दो प्रकार के दाँत होते हैं—भोज्य वस्तुओं को चबाकर खाने के लिए भीतर में छुपे हुए दाँत तथा बाहर दिखाने के लिए अन्य दाँत—उसी प्रकार ठाकुर के भीतर था ज्ञान और बाहर लोकशिक्षा के लिए था भक्तिभाव। नाम-माहात्म्य में ठाकुर जो गीत गाते थे, वह बतलाता हूँ, सुनो। (भावार्थ)—

(१)

काली किया भरोसा मैंने तुम्हारे नाम का।
काम क्या मुझे विधि विधान औ' लोकाचार का।।
नाम से कटता फन्दा काल का
सुना यह वचन है महाकाल का;
मैं हूँ बन्दा उसी महाकाल का
इसलिए करता नहीं ख्याल किसी और का।
होगा जो होना होगा नाम से,
मरूँ क्यों मैं व्यर्थ की चिन्ता से
मैंने तो यह निश्चय किया है शिवे
शिव के वचन ही हैं सार दृढ़ ज्ञान से।।

(२)

'दुर्गा' 'दुर्गा' कहते कहते यदि माँ निकलें मेरे प्राण।
देखूँ भला शंकरी कैसे ना करती तू मेरा त्राण।।
अगर करूँ गो-द्विज-नारीवध, भ्रूणघात औ' मदिरापान।
फिर भी तनिक न भय पातक का, ले सकता हूँ पद निर्वाण।।

ठाकुर ये गाते-गाते विभोर हो जाते; उस विभोर अवस्था को जिन्होंने देखा है, वे ही समझ सकते हैं कि नाम की महिमा क्या है।

'चैतन्यलीला' में गिरीशबाबू द्वारा रचित नाम-माहात्म्य गीत तुम लोग ही तो गाते हो—(भावार्थ)—
मधुर इतना हरिनाम हरि हरि बोलो न।
साध के पथ पर तू हरि खरीदना, साध तेरी हुई क्यों न।
पापी तापी का नहीं विचार, हरि बोल रे भाई एक बार,
उनकी अतुल करुणा ही सार,
नाम में होकर मतवाला, मिथ्या काज में भूलो न॥

भाई, विचार-तर्क कुछ आवश्यक नहीं, ठाकुर राम-कृष्णदेव द्वारा प्रदर्शित पथ पर केवल नाम का आश्रय लेकर चलो—देखोगे, समय पर ठीक जगह पहुँच गये हो। तुमको गीता भी पूरी नहीं पढ़नी पड़ेगी, न वेदान्त-सांख्य-दर्शन देखना होगा, न पंचतपा करनी होगी, न चारों धाम तीर्थयात्रा करनी होगी, न जप-ध्यान करना होगा, न संन्यास लेना होगा, न स्त्री-पुत्र छोड़ना होगा, न घर-द्वार का त्याग करना होगा, न किसी प्रकार की कठोरता करनी होगी; दयानिधि, भवपार उतारनेवाले रामकृष्णदेव को पकड़े बैठे रहो, अत्यन्त शीघ्र काम बन जाएगा। दयालु रामकृष्ण ने स्वयं बहुत समय तक कठोर साधन-भजन किया और उसमें सिद्धिलाभ करके वे साधनार्जित समस्त फल अपने भजनविहीन, सम्बलहीन, आश्रयहीन, दीन शरणागत लोगों के लिए संचित करके रख गये हैं। पिता की विपुल श्रम से अर्जित सम्पत्ति जिस प्रकार अकर्मण्य और आलसी सन्तानों के भी भोग के लिए रहती है, उसी प्रकार रामकृष्णदेव के शरणापन्न लोगों में कोई भले ही

कितना निकृष्ट क्यों न हो, वह भी उनकी सम्पत्ति का अधिकारी है। रामकृष्णदेव को अपने से भी अपना समझकर दुनिया का मजा लूटो, कोई चिन्ता नहीं; समय आने पर देखोगे कि ठाकुर ठीक बन्धन के उस पार ले गये हैं। सावधान! माँझी को कभी मत छोड़ना, फिर जो इच्छा हो करना। ठाकुर रामकृष्ण ऐसे दयालु हैं कि एक बार जो भी उनके शरणापन्न हो जाता है, वह उनको फिर कहीं भी क्यों न ले जाय—चाहे श्मशान हो या कसाईखाना, वे परम प्रीति के साथ संग में जाते और समस्त विपदाओं से रक्षा करते हैं। सावधान, बारम्बार सावधान, रामकृष्णदेव को छोड़ना नहीं। यदि कहो कि मैं मलिनात्मा हूँ, मन के द्वारा परिचालित हूँ, काम-क्रोधादि के अधीन हूँ और फलस्वरूप जाने कितने पापकर्म किये हैं, अतः मेरे लिए भला क्या उपाय हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि अभी भी तुमने रामकृष्णदेव को देखा नहीं और उनकी दया का अपार विस्तार समझा नहीं; श्रीरामकृष्ण-लीला का आभास तक तुम्हें मिला नहीं। भगवान् के भण्डार में दया नाम की जो अपूर्व वस्तु है, उसी से श्रीरामकृष्णदेव का श्रीअंग गठित हुआ है। दयामय ठाकुर के श्रीअंग में दया को छोड़ अन्य कोई उपादान नहीं। उसी दया के बल और गुण से स्वयं सृष्टीश्वर रामकृष्णरूपधारी क्यों बने जानते हो?—तुम्हारे-मेरे जैसे घृणित, अस्पृश्य, हीनबुद्धि जीवों के उद्धार के लिए। रामकृष्ण का रूप है पतितपावन, कंगालशरण, दीनबन्धु। जिस रूप में ऐसा गुण और ऐसी माधुरी हो, उसके पास फिर तुम अपने को मलिनात्मा, मलिनमन, रिपु के अधीन ऐसा सोचकर भवसिन्धुपार जाने में निरुपाय मानकर हताश हो रहे हो! धन्य

है तुम्हारी बुद्धि! देखो,—पुलिस जिस प्रकार चोर को उसके सहयोगियों के साथ गिरफ्तार करती है, दयानिधि श्रीरामकृष्णदेव भी षड्रिपुओं से घिरे इन्द्रियाधिराज मन को तुम्हारे द्वारा किये समस्त दुष्कर्मों सहित पकड़-कर ले जाएँगे। पुलिस के न्यायालय में जिस प्रकार अपराधी के कारावास और दण्ड की विधि है, दयालु रामकृष्णदेव के न्यायालय में भव-कारावास से मुक्ति की, बेकसूर रिहाई की विधि है। पुलिस न्यायवान् है, और प्रभुदेव दयालु हैं। प्रभुदेव के भीतर दया की उत्ताल तरंग इतनी प्रबल है कि जो भी उसके समीप आएगा—हिमालय सदृश दीर्घकाय व्यक्ति भी, तो उसे भी वह ऐसा बहाकर ले जाएगी कि उसका कोई अता-पता नहीं चलेगा। राम-कृष्ण के शरणापन्न होने पर वे शीघ्र ही उसे अपने समीप खींच लेने के लिए अपने नियम में बँधे हुए हैं। इजलास में एक बार दयामय मूर्ति के दर्शन करने मात्र से वह मुक्त हो जाता है, उसका मन मुक्त हो जाता है और उसके किये समस्त कर्मों के फल समूल नष्ट हो जाते हैं। अब नाम की महिमा में प्रभु की महिमा समझे तो? खूब सावधान! दयानिधि 'श्रीरामकृष्ण' नाम को छोड़ना मत।

विचार-बुद्धि द्वारा भगवान् के साकारवाद का खण्डन करना ठाकुर रामकृष्ण के मत में घोर अज्ञानता का काम है। सब तरह से सभी मतों की साधना करके भगवान् को नाना प्रकार से नाना रूपों में प्रत्यक्ष करके भगवान् श्रीराम-कृष्णदेव ने परस्पर झगड़ा करनेवाले धर्मावलम्बियों के विरोध को दूर करने के उद्देश्य से कहा था—तुम लोग जो जैसा कहते हो सब सत्य है; अपने भाव में रमे हुए अपने रास्ते से सरल अन्तःकरणपूर्वक चले चलो, अवश्य ही

एक दिन ईश्वर को पाओगे। ऐसा सुविशाल सार्वभौम उदार भाव एकमात्र श्रीरामकृष्णदेव के भीतर प्रकट हुआ। अब उनके चरणाश्रित भक्तों के भीतर भी यह भाव परिलक्षित हो रहा है। जहाँ उनकी कृपा है, वहाँ किसी भी धर्म अथवा मत के प्रति विद्वेषभाव नहीं पनप सकता। रामकृष्ण को माननेवाले लोग भगवान् के समस्त भावों और रूपों को अतिश्रद्धा के साथ शिरोधार्य करते हैं। किसी पन्थ के साथ उनका पूरी तरह से मेल न भी हो, पर उनका किसी धर्म या मत के प्रति तनिक भी विद्वेषभाव नहीं होता—यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, और यही रामकृष्ण के भक्तों का एक विशेष लक्षण है। सन्तान-सन्तति जिस प्रकार माता-पिता का स्वभाव अपने आप पा लेती है, रामकृष्ण के भक्तों ने भी उसी प्रकार यह उदार भाव अपने ठाकुर के निकट पाया है। ठाकुर रामकृष्णदेव के भाव की बात मैंने बारम्बार कही है; उनके भीतर यह विश्व-ग्राह्य जगत्-प्रशंसित सार्वभौम विशाल भाव रहने के कारण वे ही एकमात्र 'जगद्गुरु' नाम से पुकारने योग्य हैं तथा जितने भी पथ या मत हैं उन सबके अधिष्ठाता देवता हैं। यही उनकी विशिष्ट पहिचान है। जगत् को प्रकाशित करनेवाली सूर्य-किरणों से जिस प्रकार सब रंग प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार सकल निगूढ़ ईश्वरीय तत्त्वों की प्रकाशक इस रामकृष्ण-लीला में सारे धर्म, मत और पथों के सरल ज्वलन्त मूर्तिमान् लक्षण सुस्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। ऐसा असाधारण सर्वसम्मत धर्म-तत्त्व का स्फुरण एक भगवान् को छोड़ अन्य किसी स्थान में सम्भव नहीं है। समस्त मतों की कठोर साधना करते हुए ईश्वर का साक्षात्कार करके उन्होंने जो यह प्रतिपादित

किया कि हर धर्म सत्य है, यह भगवान् को छोड़ और किसी के बूते की बात नहीं है; काम-कांचन में फँसे हुए, माया से मोहित, घोर अन्धकार से घिरे हुए, इन्द्रिय-भोगों में आकण्ठ डूबे हुए जड़भावापन्न जीवन को चैतन्य की बाँसुरी बजाकर जगा देना—यह भगवान् को छोड़ और किसी की क्षमता नहीं है। अपढ़-निरक्षर होने के कारण शास्त्रों के स्वाध्याय से वंचित होकर भी सकल शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों को सरल भाषा में उपमा-कहानी के माध्यम से समझाकर बड़े-बड़े पण्डितों और बुद्धिवादियों को मुग्ध और मूक कर देना—यह भगवान् को छोड़ और किसी के द्वारा सम्भव नहीं है। जिस आधार में भगवत्-शक्ति का विकास है, वह आधार फिर जो भी क्यों न हो, उस आधार-धारी को ही भगवान् कहना होगा। जहाँ कृष्ण के भाव की स्फूर्ति है, उस आधार के दर्शन में कृष्ण-दर्शन की बात का भक्त मात्र विश्वास करते हैं। कोई-कोई योगमतावलम्बी कहते हैं कि मनुष्यमात्र साधना के द्वारा कृष्ण हो सकता है, किन्तु यह बात विश्वास-योग्य नहीं है, क्योंकि रामकृष्णदेव ने इस कथन की पुष्टि नहीं की है। भगवान् की कृपा से मनुष्य कितने ऊँचे पद को जा सकता है, इस सम्बन्ध में ठाकुर ने कहा—एक भक्त भगवान् की सेवा किया करता। एक दिन भगवान् अपने बिछौने पर सो रहे थे और भक्त उनके श्रीचरणों को दबा रहा था। ऐसे समय उसे नींद आ गयी। भगवान् ने भक्त से कहा, "तुझे नींद आ रही है, ऐसा कर तू मेरे इसी बिछौने पर एक बाजू में सो जा।" भक्त प्रभु की आज्ञा से उनके बिछौने पर सो गया। इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जीव कभी भगवान् नहीं बन सकता। अज्ञान के कारण कोई

माने या न माने, कोई बोले या न बोले, पर जिस आधार में भगवत्-शक्ति का विकास है, उस आधारधारी को ही भगवान् मानना होगा। यह न होने से वेद, पुराण, तन्त्र, गीता सब मिथ्या हो जाएँगे। पुराणादि ग्रन्थ भगवान् के जो सब लक्षण बतलाते हैं, रामकृष्णदेव में वे सभी विद्यमान हैं। महामाया का ऐसा खेल है कि वह देहधारी भगवान् को जनाकर भी नहीं जानने देती। यह बात कैसी है यह तुमको मैंने एक बार बतलायी है, फिर से एक बार खुलासा करके बतलाता हूँ, सुनो! प्रभुदेव की साधना-लीला में एक महिला उनके पास आ जुटी। वह जैसी विद्यावती थी, वैसी ही भक्तिमती भी। शास्त्रार्थ में कोई पण्डित उसे पराजित नहीं कर सकता था। प्रभु की लीला में वह 'ब्राह्मणी' के नाम से परिचित है। मथुरबाबू ने उस समय के सारे पण्डितों को निमंत्रित करके ब्राह्मणी के साथ शास्त्रार्थ करने में लगाया था, किन्तु ब्राह्मणी को कोई परास्त नहीं कर पाया था। ब्राह्मणी ने अपनी विद्या और भक्ति की सहायता से रामकृष्ण को भगवान् प्रमाणित किया और उस शुभ तत्त्व को पण्डितों की मण्डली के सामने रखा। जब पण्डितों ने इस पर विश्वास नहीं किया, तब ब्राह्मणी ने उन्हें यह स्पष्ट रूप से समझा दिया कि देहधारी ईश्वरावतार के जो सब लक्षण पुराण आदि ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं, वे सभी रामकृष्णदेव में हैं। पण्डितों ने शास्त्रवाक्यों के साथ मिलाकर लक्षणों को स्वयं अपनी आँखों से देखा और स्वीकार किया; किन्तु लक्षण-धारी रामकृष्णदेव को वे भगवान् कहकर घोषित नहीं कर पाये। यह देखकर स्पष्ट समझ में आता है कि शास्त्र-पाठ और शास्त्र भगवान् को जना देने पर भी मनुष्य उन्हें

नहीं जान पाता। सामान्य सरल युक्ति के द्वारा भी, हम पहचान पाएँ या नहीं पाएँ, हमें आखिर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जहाँ लक्षण है, वहाँ वस्तु भी निश्चित रूप से होनी चाहिए, क्योंकि छाया के समान लक्षण ही वस्तु का परिचायक है। जहाँ वस्तु है, वहाँ लक्षण भी प्रकाशक के रूप में विद्यमान रहता है, और जहाँ लक्षण होते हैं, वहाँ जिस वस्तु के वे लक्षण हैं उसकी सत्ता अवश्यम्भावी है। मान लो, तुम्हें उद्भिद्-शास्त्र का अध्ययन करते समय वट नाम के वृक्ष का ज्ञान हुआ। उस वृक्ष की विशेषता यह है कि उसकी छाया ग्रीष्मकाल में शीतलता और शीतकाल में उष्णता प्रदान करती है। पुस्तक पढ़कर तुमने वृक्ष का गुण तो जाना, पर वृक्ष कैसा है यह आँखों से कभी न देखा। इसलिए वृक्ष को यदि अचानक कभी देख पाओ तो नहीं पहचान पाओगे। एक बार एक पथिक ग्रीष्मकाल में थका-हारा, भूखा-प्यासा, पसीने से लथपथ किसी वृक्ष के नीचे पहुँचा। वृक्ष की छाया अत्यन्त शीतल थी, थोड़े ही समय में उसने परम तृप्ति का अनुभव किया। प्राणों को शीतल करनेवाले वृक्ष को बार-बार देखते रहने से सहसा उसे ग्रन्थ में पढ़ी वट की बात का स्मरण हो आया। वृक्ष वट का है या नहीं यह विशेष रूप से जानने के लिए वह शीतकाल के अन्त तक वहाँ रहा और उसने देखा कि शीतकाल में वृक्ष के नीचे बढ़िया गरम है। तुम भले ही वृक्ष को पहचान सको या न पहचान सको, पर उसे तुम वटवृक्ष कहोगे या नहीं बतलाओ?

एक गीत सुनो—(भावार्थ)—

क्या कहते हो
वृथा शोकवश रामकृष्ण का पूजन करता।

कूलहीन मम भव-नदिया के माझी वे उनकी दयालुता ।।
परम सखा वे मेरे ऐसे, स्वयं खोजकर मिलते मुझसे,
दोष करूँ पर नहीं बिगड़ते, तत्क्षण वह करते जो कहता ।
सदा घूमते पीछे पीछे, कहीं न मैं गिर जाऊँ पीछे,
समझ नहीं पाता भजते वे मुझे या कि मैं उनको भजता ।
वे तो मेरे अति अपने हैं, प्राणों सम मुझको रखते हैं,
रामकृष्ण जैसा अपने हैं, वैसा कौन सुहृद हो सकता ।।

(समाप्त)

○

"भारत में धर्म सर्वदा ही राष्ट्रीय जागरणों के आगे-आगे चला करता है। शंकराचार्य उस तरंग के प्रारम्भ हैं जो सारे देश में फैल गयी और जिसकी परिणति बंगाल में चैतन्य, पंजाब में सिख गुरुओं, महाराष्ट्र में शिवाजी तथा दक्षिण में रामानुज और मध्वाचार्य के आविर्भाव में हुई। इनमें से प्रत्येक के माध्यम से लोगों में आत्म-प्रत्यय जागा, वे अपनी एकता के प्रति जागरूक बने और राष्ट्रीय ऊर्जा गतिशील हुई। श्रीरामकृष्ण अपने अकेले व्यक्तित्व में इन समस्त नेताओं के समन्वय का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके युग की हलचलें अतीत की अधिक क्षेत्रीयतापरक तथा खण्डात्मक हलचलों को एकता की डोर में गूँथेंगी तथा सुसंगठित करेंगी।"

—योगी अरविन्द

श्री माँ और उनकी दैवी कृपा

स्वामी सर्वगतानन्द

(लेखक रामकृष्ण वेदान्त सोसायटी, बोस्टन, अमेरिका के प्रमुख हैं। उनका यह लेख मूल अँगरेजी में 'वेदान्त केसरी' के नवम्बर-दिसम्बर १९८२ अंक में प्रकाशित हुआ था। अनुवादक हैं डा० ओम प्रकाश वर्मा, जो सम्प्रति रविशंकर विश्वविद्यालय शिक्षण विभाग में मनोविज्ञान के व्याख्याता हैं। —स०)

कृपा को समझना और समझाना अत्यन्त कठिन है। इस विश्व में बिना किसी की कृपा के मानव-जीवन असम्भव होता। हमारा जीवन हमें ईश्वर के द्वारा पट्टे पर मिला है। हमसे यह आशा की जाती है कि हम इसका उपयोग उचित रीति से करेंगे और फिर अन्त में उसे ईश्वर को ही लौटा देंगे। इस प्रक्रिया के दौरान हमें अपने अस्तित्व के लिए तथा अन्त में परम सिद्धि के लिए मार्गदर्शन और सहायता की आवश्यकता होती है। कृपा के द्वारा ही हम गतिशील और विकसित होते हैं तथा उच्चतर आध्यात्मिक राज्यों की उपलब्धियाँ हासिल करते हैं।

बहुधा हम अपनी अज्ञानता मिथ्याभिमान, और स्वार्थ के द्वारा कृपा की शक्ति का आकलन कम करते हैं। कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। हम सभी अन्योन्याश्रित हैं। प्रथमतः हम अपने माता-पिता की कृपा पर आश्रित रहते हैं, जिनके अनुराग और लगाव के बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते थे। अपने आचार्यों और गुरुजनों की कृपा के कारण भी हम लोग सीखते और विकसित होते हैं तथा शालीन मनुष्य बनते हैं। आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से हमें अपने गुरु तथा आध्यात्मिकता-सम्पन्न व्यक्तियों की कृपा से सहायता मिलती है। इसीलिए हमसे कहा जाता

है कि हम माता, पिता तथा आचार्य इन सबको ईश्वर मानते हुए प्रणाम करें, जैसाकि तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है :

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव"

—तुम माता को भगवान् समझनेवाले होओ, तुम पिता को भगवान् समझनेवाले होओ, तुम आचार्य को भगवान् समझनेवाले होओ।

प्राय: लोग यह सोचते हैं कि उन्हें धर्म की आवश्यकता नहीं है और यह कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कला इत्यादि उनके दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं, वे पाते हैं कि वे वस्तुएँ न तो उन्हें पूरी तरह सन्तुष्ट कर सकती हैं और न ही उन्हें मानव-व्यक्तित्व का समग्र चित्र प्रदान कर सकती हैं। जीवन की एक पूर्ण झलक प्राप्त करने के लिए हमें अपनी मानवता से, मनो-शारीरिक ग्रन्थि से परे जाना होगा। हमें आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करना होगा, जो सभी धर्मों का सार है। तभी कोई जीवन को पूर्णरूपेण समझ सकता है, और वही समझ हमें अच्छी तरह रहने में, अपना दूसरों के साथ उचित रूप से अन्तः-सम्बन्ध बनाने में तथा विकसित होने में सहायता प्रदान कर सकती है। जो शरीर और मन की ग्रन्थि से परे चले गये हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश कर लिया है तथा कुछ सिद्धि प्राप्त की है, केवल वे ही हमें बता सकते हैं कि हम कैसे अपने को अनुशासित और अपने अन्तःस्थ आत्मतत्त्व की अनुभूति कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ हैं, जैसा कि शंकराचार्य कहते हैं :

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥

—शान्त और उदार महापुरुष वसन्त के समान दूसरों के प्रति उपकार करते हैं; स्वयं इस भयंकर संसार-सागर को पारकर दूसरों को भी बिना किसी अपेक्षा के पार कराने में सहायता पहुँचाते हैं।

श्री माँ एक ऐसी ही दैवी महिला थीं। हम क्यों श्री सारदा देवी को 'होली मदर' कहते हैं? पवित्रता और मातृत्व उनमें पूरी तरह एकाकार हो गया था। यद्यपि वे दैवी अनुभवातीत राज्य में पूरी तरह निमग्न थीं, फिर भी वे इस विश्व में अपनी सन्तानों की सहायता के लिए, प्रत्येक अज्ञानी और असहाय व्यक्ति के मार्गदर्शन के लिए एक माता की भाँति रह रही थीं। ऐसा सदय मातृवत् व्यवहार जिसकी पृष्ठभूमि में उत्कृष्ट दिव्यता थी—वही माँ सारदा देवी थीं। यह एक अत्यन्त दुर्लभ संयोग है। आध्यात्मिक अनुभूति की कसौटी यहाँ है कि कोई बिना किसी भेदभाव के समान रूप से सबके प्रति कृपावान् हो और उन्हें हर सम्भव रूप से सहायता पहुँचाने का प्रयास करता हो। ऐसी प्रबुद्ध आत्माएं नगण्य-सा अहंभाव रख लेती हैं और मानवता की सहायता के लिए करुणा के वश हो, लोकोत्तर राज्य से इस पृथ्वी पर आती हैं। उनकी स्थिति बड़ी रोचक होती है। वे पूरी तरह से उस दिव्य भाव में स्थित रहते हैं; वे उस निरपेक्ष चैतन्यमय दिव्यता को बिलकुल ही नहीं भूलते, फिर भी वे किसी सामान्य व्यक्ति की ही भाँति दिखाई देते हैं। वे कभी किसी को अस्वीकार

नहीं करते, किसी की निन्दा नहीं करते, किसी के प्रति उनकी शिकायत नहीं होती, अपितु वे सभी के प्रति, चाहे वे जैसे हों, क्षमाशील और स्नेहमय होकर उनकी सहायता करते हैं।

हमें ऐसी ही प्रबुद्ध आत्माओं की दया और आशीर्वाद की आवश्यकता होती है। हम चाहे कितनी भी बार गलतियाँ क्यों न करें, पर वे हमसे कहते हैं, "ठीक है, चिन्ता मत करो, कोई बात नहीं, तुम ठीक हो जाओगे।" वे अत्यन्त कृपावान् होते हैं। यदि हमारी माताएँ हमें हमारे प्रत्येक दोष के लिए दण्ड देतीं, तो हम बहुत पहले ही मर गये होते। श्री माँ के एक शिष्य ने एक ऐसे युवा साधु का बचाव किया, जिसने किसी दूसरे आश्रम में कोई गलती कर दी थी और जिसके कारण उसको वहाँ से निकाल दिया गया था। माँ के उस शिष्य ने उसे अपने पास रखा और उसकी निन्दा करनेवाले व्यक्ति से कहा, "देखो, ठाकुर सोने से सोना बनाने के लिए नहीं आये थे, वे तो जस्ते को सोना बनाने आये थे। जिन्होंने उनके प्रति समर्पण किया है, वे सभी प्रकार की सहायता पाने के योग्य हैं।" इस प्रकार की क्षमाशीलता के द्वारा लोग ऊपर उठाये जा सकते हैं।

एक प्रकार से हम सभी बच्चों के समान हैं; हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम कुछ भी नहीं जानते तथा हम अज्ञानी हैं, इसलिए हम लोग गलतियाँ करते हैं। माँ हैं—हमें क्षमा करने के लिए, हमारे प्रति सदय होने के लिए, हमें प्रबुद्ध करने के लिए। जो भी उनके पास सहायता के लिए आया, उन्होंने कभी उसे अपराधी नहीं ठहराया। उन्होंने कहा था, "मान लो मेरी कोई सन्तान

कीचड़ में सनी है तो मुझे ही——किसी दूसरे को नहीं——उसे धोकर साफ करना होगा और अपनी गोदी में उठाना होगा। गलतियाँ करना मनुष्य का सहज स्वभाव है, पर जो लोग छिद्रान्वेषण करते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे होते हैं, जो जानते हैं कि गलती करनेवालों को कैसे सुधारा जा सकता है।" फिर यह भी कहा था, "जो यहाँ आते हैं, उनमें बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनसे किसी भी प्रकार का पापकर्म अछूता नहीं रहा। परन्तु जब वे यहाँ आकर मुझे 'माँ' कहकर पुकारते हैं, तब मैं सचमुच भूल जाती हूँ और वे जितना पाने के योग्य हैं उससे भी कहीं अधिक पाते हैं।" अपनी योग्यता से अधिक पाना——यही कृपा का अर्थ है।

कभी-कभी हमें भान भी नहीं होता कि ऐसी कोई कृपा हमारी सहायता कर रही है। एक दिन एक शिष्य ने श्री माँ से बड़ी आतुरतापूर्वक कहा, "माँ, मैं बारम्बार तुम्हारे पास आता रहा हूँ और तुम्हारी कृपा भी मुझे मिली है, पर अभी तक मुझे कोई उपलब्धि क्यों नहीं हुई? लगता है कि मैं पहले जैसा था वैसा ही अब भी हूँ।" प्रत्युत्तर में माँ ने कहा, "मेरे बच्चे, मान लो तुम बिस्तर में सोये हो और बिस्तर सहित कोई तुम्हें दूसरे स्थान पर ले जाता है। उस स्थिति में जागने के बाद क्या तुम तत्काल जान जाओगे कि तुम एक नये स्थान में आ गये हो? बिलकुल नहीं। जब तुम्हारा उनींदापन पूरी तरह मिटेगा, तभी तुम जान जाओगे कि तुम किसी नये स्थान में आ गये हो।"

वे अशान्त और हारे लोगों से कहा करतीं, "मेरे बच्चे, एक बार सोचना कि तुम्हारी यहाँ एक माँ है।" यह एक अत्यन्त अद्भुत प्रतिज्ञा है। लोग उनके पास केवल आध्यात्मिक उद्देश्य से ही नहीं आये। माँ ने सभी परि-

स्थितियों में उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण कीं। लोग कलकत्ते में उनके घर के सामने बैठे रहते, जिससे उनसे मिल सकें और अपनी व्यथा सुना सकें। एक दिन देर रात्रि में एक लड़की रोती हुई आयी और माँ के दरवाजे को खड़खड़ाने लगी। माँ ने दरवाजा खोला और वह लड़की उनके चरणों पर गिर गयी। माँ ने उसे उठाया और अन्दर ले गयीं। कुछ समय पश्चात् माँ उसके साथ उस गन्दी बस्ती में गयीं, जहाँ से वह लड़की आयी थी। वहाँ के संन्यासियों ने श्री माँ के वहाँ जाने का विरोध किया, क्योंकि उस क्षेत्र में अच्छे लोग नहीं रहते थे। पर माँ ने किसी की बात नहीं सुनी। वे उस लड़की के साथ उसकी झोंपड़ी तक पैदल चलीं, फिर झोंपड़ी के भीतर गयीं और कुछ समय पश्चात् बाहर निकल आयीं। झोंपड़ी के भीतर किसी प्रकार का शोर नहीं था; वहाँ पूरी तरह से शान्ति और निस्तब्धता थी। संन्यासियों ने माँ से पूछा कि क्या हुआ, परन्तु माँ ने उन्हें कभी कुछ भी नहीं बताया।

श्रीरामकृष्ण का तपस्या के लिए जानेवाले साधुओं को निर्देश था कि वे लोग अपने पास थोड़ा भी धन न रखें और पूरी तरह से भगवान् पर निर्भर रहें। अब माँ की बात लें। उनका एक शिष्य तपस्या के लिए ऋषीकेश जा रहा था और माँ ने उसे कुछ रुपये दिये। उसने आना-कानी की, "पर माँ, ठाकुर ने कहा है कि हम लोग धन न रखें और भगवान् पर निर्भर रहें।" माँ ने उत्तर दिया, "इसे तुम्हें भगवान् ने ही दिया है, इसे रखो। तुम बीमार हो। यदि तुम वहाँ जाते हो तो तुम्हें तकलीफ हो सकती है। अपने पास यह थोड़ी रकम रखो, इससे थोड़ा दूध खरीदकर पी लिया करना।" माँ के व्यवहार को समझना

बहुत कठिन है, यह समझना सचमुच दुरूह है कि कैसे वे हमारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए हमारे स्तर तक उतर आती थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी करुणा सीमाविहीन थी।

उनमें इतना साहस था कि कभी-कभी वे श्रीरामकृष्ण का भी विरोध करतीं। श्रीरामकृष्ण को कोई "नहीं" नहीं कह सका था, पर वे कह सकी थीं, क्योंकि वे लोगों को अत्यधिक प्यार करती थीं। प्रायः माँ श्रीरामकृष्ण को खाना स्वयं परोसा करती थीं। एक दिन एक सन्दिग्ध चरित्रवाली महिला ने माँ से अनुरोध किया, "माँ, क्या मैं उन्हें परोस दूँ?" माँ ने थाली महिला को दे दी। श्रीरामकृष्ण इससे कुछ रुष्ट-से हो गये और उन्होंने माँ से प्रतिज्ञा करने के लिए कहा कि इसके बाद फिर और कभी भी वे किसी को खाना परोसने नहीं देंगी। माँ ने उत्तर दिया, "यदि कोई व्यक्ति मुझे 'माँ' कहकर पुकारे तो उसके लिए मैं कुछ भी अस्वीकार नहीं कर सकती। उन्हें वैसा करने की अनुमति दी जानी चाहिए। वे भी तुम्हारी सन्तानें हैं। तुम क्यों उन्हें अपनी सेवा के सुअवसर से वंचित रखना चाहते हो? मैं ऐसा नहीं कर सकती।" वे अपने इस मत पर बहुत दृढ़ थीं। उनके अतिरिक्त कौन श्रीरामकृष्ण का विरोध कर सकता है? हम उनके सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि हम नहीं जानते कि वे किस भाव में बोलती थीं। हम नहीं जानते कि वे आध्यात्मिकता की किस ऊँचाई तक पहुँची थीं, पर उनके कार्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके दैवी व्यक्तित्व की ऊँचाई क्या हो सकती है।

श्रीकृष्ण 'गीता' (९/२९) में कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि चे तेषु चाप्यहम् ।।
——मैं सभी जीवों में समान रूप से व्याप्त हूँ । मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय, परन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ।"

श्री माँ के द्वारा भी एक ऐसी ही प्रतिज्ञा की गयी है । पर यहाँ पर किसी को कोई अनुष्ठान पालने की आवश्यकता नहीं है; जो कोई उन्हें 'माँ' कहकर पुकारता भर है, माँ उसकी सहायता के लिए विद्यमान हैं । जो कोई उन्हें माँ के रूप में स्वीकार करता है, माँ भी उसे अपनी सन्तान के रूप में स्वीकार करती हैं । उस एक शब्द 'माँ' में ऐसी चामत्कारिक शक्ति है । कई बार वे लोगों से कहतीं, "याद रखो कि तुम्हारी एक माँ है । तुम लोग मेरे पास किसी भी समय आ सकते हो । मैं तुम्हें कभी अस्वीकार नहीं करूँगी । तुम मेरे अपने हो ।" यह कोरा आश्वासन नहीं था, बहुत से लोगों ने इसका अनुभव किया था । जिन लोगों ने एक बार भी उन्हें 'माँ' कहकर पुकारा, माँ ने उनको स्वीकार किया, उनकी सहायता की और उनके जीवन पर्यन्त उनका मार्गदर्शन किया ।

उन्होंने कभी भी लोगों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया । एक बार एक मुसलमान डाकू अमजद को बहुत प्रेम से परोसने के कारण जब उनकी आलोचना की गयी, तब माँ ने कहा, "मेरे लिए अमजद और शरत् (स्वामी सारदानन्द) दोनों समान हैं ।" यह उनके लिए——एक माँ के लिए पूर्णतया सत्य था । व्यवहार में इस प्रकार का भाव अत्यन्त दुर्लभ है । कई लोग इस सम्बन्ध में केवल बात ही करते हैं । पर माँ में जीवन पर्यन्त यह सदय वृत्ति

प्रमुखता से बनी रही। वास्तविक आध्यात्मिक जीवन तो ऐसे ही उदार भावों और क्रियाओं से गठित होता है। यही कारण है कि उनका जीवन हमारी समझ में नहीं आता। उनका जीवन अत्यन्त रहस्यमय था; उनकी आध्यात्मिक शक्तियाँ छिपी हुई थीं। हम उनके सम्बन्ध में जितना सुनते हैं, उतना ही विस्मित होते हैं।

असंख्य व्यक्ति उनकी कृपा से ऊपर उठ गये। माँ ने एक बार एक लड़के से कहा था, "देखो, पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है, पर सूर्य की किरणें उसे आकाश की ओर ऊपर उठा लेती हैं; ठीक इसी प्रकार मन का स्वभाव निम्न वस्तुओं की ओर, भोग-विषयों की ओर जाने का होता है, परन्तु ईश्वर की कृपा ऐसे मन को भी उच्चतर वस्तुओं की ओर ले जा सकती है।" यह बात एक महाविद्यालयीन छात्र के जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, जो माँ के पास बहुधा आया करता था। एक दिन माँ से बिदा लेते हुए वह अचानक बोल उठा, "माँ, इस स्थान के लिए मैं उपयुक्त नहीं हूँ; मैं तुम्हारे पास आने लायक नहीं हूँ। मैं अब तुमसे हमेशा के लिए बिदा ले रहा हूँ।" ऐसा कह वह घर छोड़कर जाने लगा। माँ उसके पीछे दौड़ीं, उसकी कमीज पकड़ ली और उसे अपनी ओर खींचते हुए अपने हाथ उसके कन्धों पर रख दिये। फिर उसकी आँखों में आँखें मिलाकर दृढ़ स्वर में बोलीं, "जब कभी तुम्हारे मन में कोई गलत विचार आवे, तो मेरे बारे में सोचना। चिन्ता मत करना।" ऐसा कह उन्होंने उसे जाने दिया। घर जाते हुए वह माँ के शब्दों की बारम्बार आवृत्ति करने लगा: "मेरे बारे में सोचना, मेरे बारे में सोचना, मेरे बारे में सोचना।" वह माँ के उन दो सुन्दर

करुणापूर्ण नेत्रों को नहीं भूल सका। निरन्तर वह उनके बारे में सोचता रहा और उसका जीवन पूर्णतया परिवर्तित हो गया। बाद में वह साधु हो गया और उसने एक अत्यन्त अनुकरणीय जीवन बिताया। माँ की आध्यात्मिक ऊँचाई कैसी रही होगी? उनके चिन्तन मात्र से हमारा हृदय पवित्र हो जाता है और हमारी चेतना उच्चतर आध्यात्मिक राज्य में प्रविष्ट हो जाती है।

लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) बताते थे कि श्रीरामकृष्ण ने उनसे श्री माँ की सेवा करने को कहा था और माँ की कृपा से ही वे अपने जीवन में सब कुछ पा सके थे। वे कहते थे, "मैं कितना धन्य हूँ कि ठाकुर मुझे माँ के पास ले गये और माँ ने मेरे जीवन को सार्थक कर दिया। उनकी सेवा मैं क्या कर सका? बल्कि वह तो माँ ही थीं, जिन्होंने मुझे अपने दिव्य स्नेह से बाँध लिया। वे हमसे कुछ भी नहीं चाहती थीं। यह उनकी कृपा का ही परिणाम था कि वे हमें माँ के रूप में प्राप्त हुई थीं।"

स्वामी विवेकानन्द कहते थे, "माँ के शब्द अन्तिम हैं।" उन्होंने उनकी कृपा को बहुतों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से समझा था। एक बार उन्होंने लिखा, "मेरे लिए माँ की कृपा पिता की कृपा से लाखगुनी अधिक मूल्यवान् है। माँ की कृपा, माँ का आशीर्वाद ये सब मेरे लिए सर्वोपरि हैं। कृपा करके क्षमा करना। यहाँ पर मैं माँ के सम्बन्ध में जरा कट्टर हूँ। माँ की आज्ञा होते ही उनका यह भूत सब कुछ कर सकता है। अमेरिका जाने के पूर्व मैंने पत्र लिखकर माँ से आशीर्वाद माँगा था। उन्होंने आशीर्वाद दिया और बस, मैं छलाँग मारकर सागर-पार हो गया!"

श्री माँ का जीवन हमारे आध्यात्मिक जीवन का अत्यन्त विशिष्ट और अन्तरतम पक्ष है। वे हमारे सम्मुख एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत होती हैं। अपने पूरे जीवन भर उन्होंने विशेष कुछ नहीं कहा, पर श्रीरामकृष्ण तथा अन्य महापुरुषों के सन्देशों के आधार पर जीवन जीकर यह समझाया कि कैसे अध्यात्म को व्यावहारिक और जीवन्त बनाया जा सकता है। जब कोई उनके जीवन को सूक्ष्मता से परखता है और उनकी कार्यपद्धति को समझता है, तो वह गहराई और प्रेरणा प्राप्त करता है। यद्यपि उनका मन अत्यन्त उच्च आध्यात्मिक स्तर पर बना रहता था, फिर भी उन्होंने समाज में, एक मनुष्य के रूप में, विभिन्न स्तर, चरित्र और आस्था वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर रहने का जो व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया, वह हमारे सम्मुख जाज्वल्यमान है। एक व्यक्ति जब उनके पास उपदेश प्राप्त करने के लिए आया, तो उन्होंने कहा, "क्या तुम नहीं देखते कि मैं क्या कर रही हूँ?"

व्यक्ति को पवित्र जीवन बिताने के लिए बहुत से शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक नहीं है। वह माँ के जीवन को सावधानीपूर्वक पढ़े और उसका अनुकरण करे, उसी से यहाँ और अभी आध्यात्मिक जीवन का अर्थ समझ में आ जाएगा। सारी कसौटी जीने में है। क्या तुम दूसरों लिए दुःखी होते हो? क्या तुम लोगों से प्यार करते हो? यही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। श्री माँ के जीवन में भाषा का कोई व्यवधान नहीं था। जब वे दक्षिण भारत गयीं, तब न तो वे वहाँ की भाषा जानती थीं, न वहाँ के लोग उनकी भाषा जानते थे। पर उनका सम्प्रेषण उत्कृष्ट था। जब हृदय में प्यार होता है, तो कोई भाषा आवश्यक नहीं

होती। जब माँ और नन्हा शिशु एक दूसरे से बातें करते हैं, तो क्या वह संवाद भाषा के द्वारा होता है? नहीं,हृदय,हृदय से बोलता है। यहाँ आत्मा से आत्मा के बोलने की बात है। उनकी उपस्थिति मात्र से लोगों ने अनुभव किया कि वे उनकी सन्तान हो गये हैं। अपने स्पर्श से, अपनी झलक मात्र से उन्होंने लोगों को प्रेरित किया। उनमें वह प्यार था, जो दैवी स्रोत से, सीधे ईश्वर से आता है। जब वह प्यार आता है, तब किसी में उसे रोकने की शक्ति नहीं होती। इस प्रकार उन्होंने लोगों को बदला और उन्हें प्रदीप्त किया।

प्यार, करुणा और क्षमा ये सभी एक साथ चलते हैं। श्री माँ इन तीनों का मूर्तस्वरूप थीं। वे हमारे सम्मुख अध्यात्म-क्षेत्र की वास्तविक माँ के रूप में, हमारी उच्चतर आकांक्षाओं की सम्पूर्ति के रूप में आती हैं। हिन्दू ईश्वर की पूजा जगन्माता के रूप में क्यों करता है? इसलिए कि उस भाव में मानवी पूर्णता के आदर्श की उच्चतम अभिव्यक्ति है। ईश्वर का ब्रह्म-रूप हमें समझ में नहीं आता, पर ईश्वर का मातृ-रूप हम समझते हैं।

माँ की कृपा अपरिमित है। माँ हैं। वे इतिहास के मात्र किसी एक काल में नहीं रहीं; वे अभी भी विद्यमान हैं। उनकी प्रेरणा कभी समाप्त नहीं होगी। वे शाश्वत हैं, अमर हैं। आज भी जो उन्हें 'माँ' कहकर पुकारता है, वह निश्चित ही प्रेरणा प्राप्त करता है। वे लोगों में किसी प्रकार का भेद नहीं करतीं। जो भी उन्हें 'माँ' कहता है, उसे वे पूरी तरह स्वीकार कर लेती हैं। यहाँ हिन्दू, ईसाई या मुसलमान का प्रश्न नहीं है। उनकी आस्था और धार्मिक प्रवृत्ति के प्रति निरपेक्ष होकर वे उन सब पर अपनी

कृपा का वर्षण करेंगी। माँ के जीवित रहते लोगों ने इसका अनुभव किया था, जब भी उन्होंने माँ के सम्बन्ध में सोचा; और आज भी, उनकी मृत्यु के पश्चात्, बहुत से ऐसे व्यक्ति उनकी अद्भुत कृपा का अनुभव करते हैं, जो उनके बारे में सोचते और उनसे प्रार्थना करते हैं। माँ की दैवी कृपा ऐसी वस्तु है, जिसका उचित रूप से मूल्यांकन हम मानव-समझ की दृष्टि से नहीं कर सकते। वह हमारे आकलन से परे है। हम केवल स्वामी अभेदानन्दजी महाराज द्वारा की गयी श्री माँ की प्रार्थना के शब्दों में कह सकते हैं—

कृपां कुरु महादेवि सुतेषु प्रणतेषु च।
चरणाश्रयदानेन कृपामयि नमोऽस्तु ते॥

—'हे महादेवि, तुम अपनी शरणागत सन्तानों को चरणों में आश्रय देकर कृपा करो। हे कृपामयी, तुम्हें प्रणाम है।'

○

भक्त का प्रश्न—ईश्वर-दर्शन का उपाय क्या है?

माँ का उत्तर—वह उन्हीं की कृपा से होता है। पर व्यक्ति को जप-ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। उससे मन का मल दूर होता है। व्यक्ति को भगवत्पूजन आदि साधन अवश्य करने चाहिए। जैसे फूल को छूने से उसकी सुगन्ध मिलने लगती है, या जैसे चन्दन को पत्थर से घिसने से उसकी खुशबू निकलने लगती है, वैसे ही सतत चिन्तन करने से आध्यात्मिक जागरण होने लगता है।

सोचो तो !

स्वामी विवेकानन्द

देव-दर्शन के लिए एक व्यक्ति आकर उपस्थित हुआ। ठाकुरजी का दर्शन पाकर उसके हृदय में यथेष्ट श्रद्धा एवं भक्ति का संचार हुआ, और ठाकुरजी के दर्शन से जो कुछ अच्छा उसे मिला, शायद उसे चुका देने के लिए उसने राग अलापना आरम्भ किया। दालान के एक कोने में एक खम्भे के सहारे बैठे हुए चौबेजी ऊँघ रहे थे। चौबेजी उस मन्दिर के पुजारी हैं, पहलवान हैं और सितार भी बजाया करते हैं—सुबह-शाम एक-एक लोटा भाँग चढ़ाने में निपुण हैं तथा उनमें और भी अनेक सद्‌गुण हैं। चौबेजी के कानों में सहसा एक विकट आवाज के गूँज जाने से उनका नशा-समुत्पन्न विचित्र संसार पल भर के लिए उनके बयालीस इंच वाले विशाल वक्षःस्थल के भीतर 'उत्थाय हृदि लीयन्ते' हुआ ! तरुण-अरुण-किरण-वर्ण नशीले नेत्रों को इधर-उधर घुमाकर अपने मन की चंचलता का कारण ढूँढ़ने में व्यस्त चौबेजी को पता लगा कि एक व्यक्ति ठाकुरजी के सामने अपने ही भाव में मस्त होकर किसी उत्सव-स्थान पर बरतन माँजने की ध्वनि की भाँति कर्णकटु स्वर में नारद, भरत, हनुमान् और नायक इत्यादि संगीत-कला के आचार्यों का नाम जोर-जोर से ऐसे उच्चारण कर रहा है, मानो पिण्डदान दे रहा हो। अपने नशे के आनन्द में प्रत्यक्ष विघ्न डालने वाले व्यक्ति से मर्माहत चौबेजी ने जबरदस्त परेशानी-भरे स्वर में पूछा, "अरे भाई, उस बेसुर बेताल में क्या चिल्ला रहे हो ?" तुरन्त उत्तर मिला, "सुर-तान की मुझे क्या परवाह ? मैं तो ठाकुरजी के मन को तृप्त कर रहा हूँ।" चौबेजी बोले, "हुं, ठाकुरजी को क्या तूने ऐसा मूर्ख समझ रखा है ? अरे पागल, तू तो मुझे ही तृप्त नहीं कर पा रहा है, ठाकुरजी क्या मुझसे भी अधिक मूर्ख हैं ?"

○

रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन
बेलुड़ मठ, हावड़ा (प.बं.)
१९८५-८६ का संक्षिप्त प्रतिवेदन
शाखाएँ

वर्तमान (मार्च १९८६) में बेलुड़ के प्रधान केन्द्र को छोड़कर, रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की कुल १२३ अधिकृत शाखाएँ समस्त विश्व में फैली हुई हैं। इनमें ५३ मिशन-केन्द्र हैं, २२ मठ और मिशन के सम्मिलित केन्द्र, और ४८ मठ-केन्द्र। इनका क्षेत्रीय विभाजन निम्नलिखित है—बँगलादेश में २ मिशन-केन्द्र, ३ मठ-केन्द्र और ५ सम्मिलित मठ-मिशन-केन्द्र; फ्रांस, श्रीलंका, सिंगापुर, फिजी और मारीशस इनमें से प्रत्येक में १-१ मिशन-केन्द्र; स्विट्जरलैण्ड, इँग्लैण्ड, जापान और अर्जेण्टाइना में १-१ मठ-केन्द्र; संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १२ मठ-केन्द्र। शेष ४६ मिशन-केन्द्र, २९ मठ-केन्द्र एवं १७ सम्मिलित मठ-मिशन-केन्द्र (कुल ९२) भारत में हैं। भारत में केन्द्रों का फैलाव इस प्रकार है—पश्चिम बंगाल में ३०, तमिलनाड् में ११, उत्तरप्रदेश में ११, बिहार में ७, केरल में ६, कर्नाटक में ४, आसाम में ३, उड़ीसा में ३, आन्ध्र में ३, अरुणाचल में ३, महाराष्ट्र में ३, मेघालय में २ तथा मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, दिल्ली, त्रिपुरा और चण्डीगढ़ इनमें से प्रत्येक में १-१। इनके अतिरिक्त, २७ से अधिक उपशाखाएँ भी भारत में कार्यरत हैं।

कार्यों की संक्षिप्त रिपोर्ट

वर्ष १९८५-८६ में ओषधि, शिक्षा और तात्कालिक सहायता-कार्यों के क्षेत्र में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण

मिशन द्वारा जो सेवाएँ की गयीं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

औषधि क्षेत्र:—

मठ और मिशन के अन्तर्गत १३ इन-डोर अस्पताल हैं, जिनमें १,८११ शय्या हैं। आलोच्य वर्ष में ५३,०९४ रोगियों का उपचार इन अस्पतालों में किया गया। इसी प्रकार ८३ आउट-डोर धर्मार्थ औषधालय हैं, जहाँ ४४,३६,३२५ रोगियों की चिकित्सा की गयी। फिर सुदूर ग्रामीण अंचलों में १९ चल-चिकित्सालयों के माध्यम से ५,४३,७५० रोगियों का उपचार किया गया। इनमें टी. बी. सेनाटोरियम और प्रसूति-गृह के सेवा-कार्य उल्लेखनीय हैं।

शिक्षा-क्षेत्र:—

५ डिग्री कालेजों (२ आवासीय) में ४,९९५ विद्यार्थी थे। १ संस्कृत कालेज (४२ छात्र)। ३ बी. एड. कालेज (३८९ छात्र)। १ बेसिक ट्रेनिंग स्कूल (३९ छात्र)। १ पी. जी. बी. टी. कालेज (१०२ छात्र)। ४ जूनियर बेसिक ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट (२९५ छात्र)। १ फिजिकल एज्युकेशन कालेज (१४१ छात्र)। १ इंस्टीट्यूट ऑफ कामर्स (१६४ छात्र)। १ इंस्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चर (९१ छात्र)। ४ पॉलीटेकनिक (१,३८३ छात्र)। १० जूनियर टेकनिकल एवं आई. टी. आई. (८३४ लड़के)। ६ व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र (२८६ छात्र)। ९६ विद्यार्थी भवन एवं अनाथालय (११,५५६ लड़के एवं १,४८४ लड़कियाँ)। ४२ उच्चतर माध्यमिक, उच्च माध्यमिक एवं माध्यमिक विद्यालय (२४,४३९ लड़के, ११,६४८ लड़-

कियाँ)। २६ सीनियर बेसिक एवं एम. ई. स्कूल (४,७२२ लड़के, ३,८५४ लड़कियाँ)। ४४ जूनियर बेसिक एवं अपर प्रायमरी स्कूल (७,३५४ लड़के, ३,३९९ लड़कियाँ)। ७६८ लोअर प्रायमरी एवं अन्य स्कूल (३१.१२६ लड़के, ४,८७७ लड़कियाँ)। २४८ प्रौढ़ शिक्षा एवं सामुदायिक केन्द्र (६,४७४ विद्यार्थी)। १ पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेस् (२६ विद्यार्थी)। ३ नर्स एवं मिडवाइफ ट्रेनिंग सेण्टर (२५१ प्रशिक्षार्थी)। १ आदिवासी कृषि प्रशिक्षण एवं सेवा केन्द्र (२, ७२१ प्रशिक्षार्थी)। १ ग्रामीण ग्रन्थपाल प्रशिक्षण केन्द्र (आवासीय) (३१ प्रशिक्षार्थी)। १ ग्रामसेवक प्रशिक्षण केन्द्र (३,००० प्रशिक्षार्थी)। इसके अतिरिक्त नरेन्द्रपुर आश्रम ने एक अन्धविद्यालय संचालित किया, जिसमें १७० अन्धे छात्र थे तथा कलकत्ते एवं हैदराबाद के इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने ३,८८८ विद्यार्थियों को विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं की शिक्षा प्रदान की। इस प्रकार रामकृष्ण संघ के द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थानों में आलोच्य वर्ष में कुल १,०२,६८२ लड़के एवं २६,८५२ लड़कियाँ थीं।

गाँवों, पिछड़े वर्गों और आदिवासी क्षेत्रों में कार्य:—

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन अपने प्रारम्भ से ही अपने पिछड़े एवं अभागे देशवासियों की सेवा में सन्नद्ध है। पिछड़े हुए तथा आदिवासी क्षेत्रों में मिशन के १६ प्रमुख केन्द्र कार्यरत हैं। इनके अन्तर्गत कई उप-केन्द्र या उपशाखाएँ भी कार्यशील हैं। बिहार का राँची, अरुणाचल प्रदेश के नरोत्तमनगर और अलाँग, आसाम का सिलचर तथा मेघालय के चेरापुंजी एवं कई ग्रामीण उप-

केन्द्र आदिवासियों के बीच उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। आलोच्य वर्ष में ग्रामीण एवं आदिवासी इलाकों में मिशन ने १ कालेज, १७ उच्चतर माध्यमिक और उच्च माध्यमिक विद्यालय, ४७ सीनियर बेसिक, जूनियर बेसिक, एम. ई. एवं अपर प्रायमरी स्कूल, ५३ प्रायमरी स्कूल, प्रौढ़ों के लिए ५६ रात्रि-पाठशालाएँ तथा ६ व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र, १ ग्रामीण ग्रन्थपाल प्रशिक्षण केन्द्र, १ ग्राम सेवक प्रशिक्षण केन्द्र, १ कृषि विद्यालय, ३ संस्कृत विद्यालय, १ ग्रामीण युवक कृषि प्रशिक्षण संस्था (दिव्यायन), २४७ प्रौढ़ शिक्षा एवं सामुदायिक केन्द्र तथा ४२८ औपचारिकेतर शिक्षा-केन्द्र संचालित किये। इन सब में विद्यार्थियों की संख्या ६२,७७७ थी। मिशन ने इन आदिवासी क्षेत्रों में ३ इन-डोर अस्पताल, ४० आउट-डोर एवं १९ चल-चिकित्सालय भी चलाये, जिनमें क्रमशः १,३९२, १०,३१,१४७ एवं ५,१६,४९९ रोगियों को लाभ मिला। इसके अतिरिक्त, १३३ दुग्ध-वितरण-केन्द्र, बहुत से ग्रन्थालय एवं ३ चल-ग्रन्थालय भी संचालित किये गये। प्रचार-कार्य और सामान्य शिक्षण हेतु स्थान-स्थान पर मैजिक लैण्टर्न और सिनेमा दिखाये गये। औद्योगिक क्षेत्रों में मजदूरों के लिए कई रात्रि-पाठशालाएँ तथा सामुदायिक केन्द्र आदि चलाये गये।

इसके अतिरिक्त, समेकित ग्रामीण विकास कार्यों पर कुल ७ लाख ७४ हजार ९४३ रुपये की राशि व्यय की गयी।

सहायता और पुनर्वास कार्य:—

आलोच्य वर्ष में मिशन को सदा की भाँति व्यापक पैमाने पर बाढ़, तूफान, सूखा और अन्य राहत कार्यों में

जुटना पड़ा। राहत कार्यों में आलोच्य वर्ष में १३ लाख ८३ हजार ४०४ रुपये की राशि व्यय हुई। इसके अतिरिक्त, ११ लाख ९ हजार ८७७ रुपये की राहत सामग्री भी पीड़ितों के बीच वितरित की गयी। फिर पुनर्वास कार्यों पर कुल ३,७७,८४७) का व्यय हुआ।

आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक कार्य:—

मठ एवं मिशन के विभिन्न केन्द्रों ने भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आदर्श के प्रचार को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही शैक्षणिक, औषधीय आदि विभिन्न सेवा-कार्यों के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव द्वारा उद्घोषित 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' की भावना को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। सभी केन्द्रों ने सार्वजनिक उत्सवों, सभाओं, प्रवचनों और प्रकाशनों के द्वारा विभिन्न धर्मों के बीच पारस्परिक सौहार्द्र को बढ़ाने की दिशा में कार्य किया तथा मानव की अन्तर्निहित दिव्यता को प्रकट करने पर बल दिया।

विभिन्न केन्द्रों द्वारा रामकृष्ण-विवेकानन्द-युवा सम्मेलन भी आयोजित किये गये, जिनमें पर्याप्त संख्या में युवक-युवतियों ने भाग लिया।

विभिन्न केन्द्रों से धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं में १२ पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं।

इसके अलावे, आलोच्य वर्ष में विदेशों में प्रचार-कार्य पूर्व की ही भाँति नियमित और सुनियोजित रूप से होते रहे। स्वामी विवेकानन्द के समय से ही भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक सन्देश को सुदूर देशों तक प्रचारित और प्रसारित करने का कार्य रामकृष्ण मठ

एवं रामकृष्ण मिशन के त्यागी संन्यासी करते रहे हैं। इस वर्ष भी वरिष्ठ संन्यासियों ने उत्तर एवं दक्षिण अमेरिका में, दक्षिण एवं पूर्वी आफ्रिका में तथा यूरोप और एशिया में स्थित विभिन्न केन्द्रों में पूजा-अर्चा, प्रवचन-व्याख्यान आदि के माध्यम से भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक ज्योति को प्रज्वलित रखा।

○

श्रीरामकृष्ण को प्रणाम

यस्यानने नृत्यति वाङ्मनोज्ञा
गंगासमा शान्तिसुधाप्रदात्री।
वेदान्तविद् यो महनीयकीर्ति
स्तं रामकृष्णं प्रणमामि भक्त्या ।।

—जिनके आनन में गंगा-जैसी (पवित्र) शान्ति-सुधा प्रदान करनेवाली मनोहर वाणी विलास करती है और जो वेदान्त-तत्त्व के ज्ञाता हैं, उन महान् कीर्तिवाले श्रीरामकृष्ण को मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

—रवीन्द्र नाथ गुरु